वार्षिक रु. ५०/-
मूल्य रु. ६.००
विवेक ज्योति
वर्ष ४४ अंक ७
जुलाई २००६
मूल्य रु. ६.००
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)
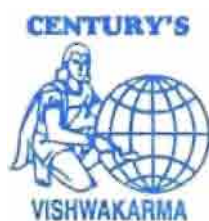
॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जुलाई २००६

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४४
अंक ७

वार्षिक ५०/-   एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर - १२,५००

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये **'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय'** को लिखें।

सौर ऊर्जा

वैराग्य-शतकम्

मृत्पिण्डो जलरेखया वलयितः सर्वोप्ययं नन्वणुः
स्वांशीकृत्य तमेव संगरशतै राज्ञां गणा भुञ्जते ।
ते दद्युर्ददतोऽथवा किमपरं क्षुद्रा दरिद्रा भृशं
धिग्धिक्तान्पुरुषाधमान्धनकणान् वाञ्छन्ति तेभ्योऽपि ये ।।५९।।

अन्वय – जलरेखया वलयितः अयं सर्वः मृत्-पिण्डः अपि ननु अणुः, तं एव संगर-शतैः स्व-अंशीकृत्य राज्ञां गणाः भुञ्जते । भृशं क्षुद्राः दरिद्राः ते दद्युः अथवा ददतः, अपरं किं? तेभ्यः अपिः ये धन-कणान् वाञ्छन्ति तान् पुरुष-अधमान् धिक् धिक् ।

अर्थ – इस पृथ्वी की सारी सम्पदा समुद्ररूपी जलरेखा से घिरे हुए मिट्टी के एक ढेले के समान है । सैकड़ों युद्धों के द्वारा राजा लोग इस पर अधिकार जमाकर भोग किया करते हैं । ऐसे तुच्छ दरिद्र राजा यदि कुछ दान करें या करते हैं, तो इसमें क्या आश्चर्य ! परन्तु उनके पास से भी जो लोग छोटी-मोटी धनराशि की अपेक्षा रखते हैं, उन्हें बारम्बार धिक्कार है ।

स जातः कोऽप्यासीन्मदनरिपुणा मूर्ध्नि धवलं
कपालं यस्योच्चैर्विनिहितमलंकारविधये ।
नृभिः प्राणत्राणप्रवणमतिभिः कैश्चिदधुना
नमद्भिः कः पुंसामयमतुलदर्पज्वरभरः ।।६०।।

अन्वय – यस्य धवलं कपालं मदन-रिपुणा अलंकार-विधये मूर्ध्नि उच्चैः विनिहितम् सः कः अपि जातः आसीत्; अधुना प्राण-त्राण-प्रवण-मतिभिः कैः चित् नृभिः नमद्भिः पुंसां अयम् अतुल-दर्प-ज्वर-भरः कः?

अर्थ – उसी व्यक्ति का जन्म लेना सार्थक है, मृत्यु के बाद जिसका श्वेत कपाल मदनान्तक शिव अलंकार के रूप में अपने मस्तक पर धारण करते हैं । अन्यथा, आजकल तो अपने तुच्छ प्राण के पोषण में लगे कुछ सामान्य लोगों से सम्मान पाकर ही व्यक्ति को गर्व का बुखार चढ़ जाता है ।

– भर्तृहरि

शिव-वन्दना

– १ –

(भैरव–चौताल)

गौरीपति, सुन्दर अति, शंकर भोला राजत,
मोहक अति रूप देख, मन्मथ कुण्ठित लाजत ।।

चिन्मय वपु, गौर वर्ण, शोभत है अस्थि-कर्ण,
व्याघ्रचर्म कटि-आवृत, सर्पमाल गल साजत ।।

आच्छादित भस्म अंग, जटाजूट बहत गंग,
मस्तक पर अर्धचन्द्र, डमरू कर में बाजत ।।

नन्दी पर हो सवार, कर त्रिशूल अस्त्र धार,
कृपादृष्टि से 'विदेह', षड्रिपु सत्वर भाजत ।।

– २ –

(बागेश्री या मारूविहाग–चौताल)

शंकर करुणानिधान,
लीजै आश्रय में प्रभु,
दीजै पद सन्निधान ।।

भस्मावृत गौर अंग,
जटाजूट बहत गंग,
विचरत नित उमा संग,
हालाहल करत पान ।।

व्याल-माल चन्द्रभाल,
शोभे कटि बाघ-छाल,
त्रिनयन सुन्दर विशाल,
सतत करत अभय-दान ।।

जो चाहे पुण्य-धाम,
छोड़ लोभ-मोह-काम,
अनुपम यह छवि ललाम,
कर 'विदेह' नित्य ध्यान ।।

– विदेह

समाज और राष्ट्र का विकास

स्वामी विवेकानन्द

अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित State Society and Socialism नामक संकलन में प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामीजी के विचारों का संयोजन किया गया है। प्रस्तुत हैं उसी पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

प्रश्न – समाज क्या है? इसका विकास कैसे होता है?

सामान्य कष्ट, घृणा या प्रीति आपस में सहानुभूति का कारण होती है। जिस नियम से हिंसक पशु दलबद्ध हो शिकार करते फिरते हैं, उसी नियम से मनुष्य भी मिलकर रहते हैं और जाति या राष्ट्र का संगठन करते हैं।[१]

समाज की सृष्टि होने लगी। देश-भेद से ही समाज की सृष्टि हुई। समुद्र के किनारे जो लोग रहते थे, वे अधिकांशत: मछली पकड़कर अपना जीवन निर्वाह करते थे। समतल जमीन पर रहनेवाले खेतीबारी करते थे, पर्वतों पर रहनेवाले भेड़ चराते थे, बालू के मैदानों में रहनेवाले बकरी और ऊँट चराते थे। कितने ही लोग जंगलों में रहकर शिकार करने लगे। जिन्होंने समतल जमीन पाकर खेती-बारी करना सीखा, वे पेट की ज्वाला से काफी-कुछ निश्चिन्त होकर विचार करने का अवकाश पाकर अधिकतर सभ्य होने लगे। किन्तु सभ्यता आने के साथ शरीर दुर्बल होने लगा। जो दिन-रात खुली हवा में रहकर अधिकतर मांस खाते थे, उनमें और जो घर के भीतर रहकर अधिकतर अनाज खाते थे, बहुत अन्तर होने लगा। शिकारी पशु पालनेवालों, या मछली खानेवालों को जब कभी भोजन की कठिनाई पड़ती, तभी वे समतल भूमि के निवासी कृषकों को लूटने लगते। समतल निवासी आत्मरक्षा के लिये आपस में दल बाँधने लगे और इस प्रकार छोटे-छोटे राज्यों की सृष्टि होने लगी।[२]

प्रश्न – समाज का राष्ट्र में कैसे विकास हुआ?

देवताओं का भोजन अनाज होता था, वे सभ्य होते थे तथा ग्राम, नगरों अथवा उद्यानों में वास करते थे और बुने हुये कपड़े पहनते थे, असुरों का वास पहाड़, पर्वत, मरुभूमि या समुद्रतट पर होता था, जंगली जानवरों का मांस तथा जंगली फल-मूल उनका भोजन था और बकरी की खाल या अन्य कोई चीज उनका वस्त्र था, जो अपनी चीजों के बदले में वे देवताओं से पा जाते थे। देवता लोग शरीर से कमजोर होते थे और उन्हें कष्ट बर्दाश्त नहीं होता था, असुरों का शरीर हृष्ट-पुष्ट था। वे उपवास करने और कष्ट सहने के आदी थे।

असुरों में भोजन का अभाव होते ही वे लोग दल बाँधकर पहाड़ से उतरकर या समुद्र के किनारे से आकर गाँव-नगरों को लूटते थे। धन-धान्य के लोभ से कभी-कभी वे देवताओं पर भी आक्रमण कर बैठते थे। यदि बहुत-से देवता एकत्र न हो पाते, तो उनकी असुरों के हाथों मृत्यु हो जाती। देवताओं की बुद्धि तेज थी, इसीलिये वे कई तरह के अस्त्र-शस्त्र तैयार करने लगे। ब्रह्मास्त्र, गरुड़ास्त्र, वैष्णवास्त्र, शैवास्त्र – ये सब देवताओं के अस्त्र थे। असुरों के अस्त्र तो साधारण थे, पर वे शरीर से काफी बलवान थे। असुरों ने बारम्बार देवताओं को हरा दिया, परन्तु वे लोग सभ्य नहीं होना चाहते थे। वे खेती-बारी भी नहीं कर सकते थे और न बुद्धि का ही प्रयोग कर सकते थे।

विजयी असुर यदि विजित देवताओं के 'स्वर्ग' में राज्य करना चाहते थे, तो वे देवताओं के बुद्धि-कौशल के कारण थोड़े ही दिनों में देवताओं के दास बन जाते थे। या फिर असुर देवताओं के राज्य में लूट-पाट मचाकर अपने स्थान में लौट जाते थे। देवता लोग जब एकत्र होकर असुरों को मारते, तब असुर लोग या तो समुद्र में जा छिपते, अथवा पहाड़ों या जंगलों में। क्रमश: दोनों दल बढ़ने लगे। लाखों देवता और असुर इकट्ठे होने लगे। अब महा-संघर्ष, लड़ाई-झगड़े, जीत-हार होने लगी।

इस तरह विभिन्न प्रकार मनुष्यों के मिलने-जुलने से वर्तमान समाज की सारी प्रथाओं की सृष्टि होने लगी, नाना प्रकार के नवीन विचारों तथा विद्याओं की सृष्टि होने लगी। एक दल हाथ या बुद्धि के द्वारा दूसरों के काम आनेवाली चीजें तैयार करने लगा, दूसरा दल उन चीजों की रक्षा करने लगा। सब लोग मिलकर आपस में उन चीजों का विनिमय करने लगे और बीच में एक चालाक दल एक स्थान की चीजों को दूसरे स्थान पर ले जाने के वेतन-स्वरूप, सब चीजों का अधिकाश स्वयं हड़प करने लगा। एक दल खेती करता, दूसरा पहरा देता, एक दल बेचता, तो दूसरा खरीदता। जिन लोगों ने खेती-बारी की, उन्हें कुछ नहीं मिला, जिन लोगों ने पहरा दिया, उन लोगों ने जुल्म करके कितने ही हिस्से ले लिये। चीजों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जानेवाले व्यवसाइयों की पौ-बारह रही। आफत तो आयी उन पर, जिन्हें चीजों के ऊँचे दाम देने पड़े। पहरा देनेवालों का नाम हुआ राजा, वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले

जानेवाले का नाम पड़ा सौदागर। ये दोनों दल काम तो कुछ करते न थे, पर लाभ का अधिकांश इन्हीं लोगों को मिलता था जो दल चीजें तैयार करता था, उसे तो बस पेट पर हाथ रखकर भगवान का नाम लेना पड़ता था।

क्रमश: इन सभी भावों के सम्मिश्रण से एक गाँठ के ऊपर दूसरी गाँठ पड़ती गयी और इस प्रकार हमारे वर्तमान जटिल समाज की सृष्टि हुई।[३]

प्रश्न – क्या पूर्व और पश्चिम के समाज तथा राष्ट्र में कोई भेद है?

जम्बूद्वीप की सारी सभ्यता का उद्भव समतल भूमि में बड़ी-बड़ी नदियों के किनारे – यांग-टि-सीक्यांग, गंगा, सिन्धु और दजला के किनारे हुआ। इस सारी सभ्यता की आदि भित्ति खेती-बारी है। यह सारी सभ्यता देवता-प्रधान है और यूरोप की सारी सभ्यता का उत्पत्ति-स्थान या तो पहाड़ है अथवा समुद्रमय देश – चोर और डाकू ही इस सभ्यता की भित्ति हैं और इनमें आसुरी भाव ही अधिक है।[४]

देव और असुर की कथा तो तुम जानते ही हो। देवता आस्तिक थे – उन्हें आत्मा में विश्वास था, ईश्वर और परलोक में विश्वास करते थे। असुरों का कहना था कि इस जीवन को महत्त्व दो, पृथ्वी का भोग करो, इस शरीर को सुखी रखो। इस समय हम इस बात पर विचार नहीं कर रहे हैं कि देवता अच्छे थे या असुर। पर पुराणों को पढ़ने से लगता है कि असुर ही कहीं अधिक मनुष्यों की तरह के थे, देवता तो अनेक अंशों में हीन थे। अब यदि कहा जाय कि हिन्दू देवताओं और पाश्चात्य देशवासी असुरों की सन्तान हैं, तो प्राच्य और पाश्चात्य का अर्थ भलीभाँति समझ में आ जायेगा।[५]

यूरोप में राजनीतिक विचार ही राष्ट्रीय एकता का कारण है, परन्तु एशिया में राष्ट्रीय एकता का आधार धर्म है।[६]

प्राचीन भारत में बौद्धिकता तथा आध्यात्मिकता ही राष्ट्रीय जीवन की केन्द्र-बिन्दु थी, राजनीतिक गतिविधियाँ नहीं। आज की भाँति अतीत में भी बौद्धिकता तथा आध्यात्मिकता की तुलना में सामाजिक और राजनीतिक शक्तियाँ गौण रहीं। ऋषियों व आध्यात्मिक उपदेशकों के आश्रमों के इर्द-गिर्द ही राष्ट्रीय जीवन का प्रस्फुटन हुआ। इसीलिये उपनिषदों में भी हमें पांचालों, काश्यों, मैथिलों तथा मागधों आदि की समितियों का वर्णन अध्यात्म दर्शन तथा संस्कृति के केन्द्र के रूप में मिलता है। फिर ये ही केन्द्र क्रमश: आर्यों की विभिन्न शाखाओं की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं के संगम बन गये।[७]

विकास के लिये पहले स्वाधीनता चाहिये। तुम्हारे पूर्वजों ने आत्मा को स्वाधीनता दी थी, इसीलिये धर्म की उत्तरोत्तर वृद्धि और विकास हुआ, परन्तु देह को उन्होंने सैकड़ों बन्धनों में डाल दिया था, इसी कारण समाज का विकास रुक गया। पाश्चात्य देशों का हल ठीक इसके उल्टा है। समाज में बहुत स्वाधीनता है, धर्म में बिल्कुल नहीं। इसके फलस्वरूप वहाँ धर्म बड़ा ही अधूरा रह गया, परन्तु समाज ने भारी उन्नति कर ली है। अब धीरे-धीरे प्राच्य समाज के पैरों से जंजीरें खुल रही हैं, उधर पाश्चात्य धर्म के लिये भी वैसा ही हो रहा है।

प्राच्य और पाश्चात्य के आदर्श अलग-अलग हैं। भारतवर्ष धर्मप्रवण या अन्तर्मुख है, पाश्चात्य वैज्ञानिक या बहिर्मुख। पाश्चात्य देश जरा-सी भी धार्मिक उन्नति सामाजिक उन्नति के माध्यम से ही करना चाहते हैं, परन्तु प्राच्य देश थोड़ी-सी भी समाजिक शक्ति का लाभ धर्म ही के द्वारा करना चाहते हैं।[८]

मैं भारत को एक तरुण सजीव के रूप में देखता हूँ। यूरोप भी सजीव और युवा है। इनमें से कोई भी अभी विकास की उस अवस्था को नहीं प्राप्त कर सका है, जिसमें हम निरापद रूप से उसकी संस्थाओं की अलोचना कर सकें। ये दोनों महान् प्रयोग हैं, जिनमें अभी कोई पूर्ण नहीं हुआ है। भारत में हम समाजिक साम्यवाद पाते हैं, जिस पर और जिसके चारों ओर अद्वैत अर्थात् आध्यात्मिक व्यक्तिवाद का प्रकाश पड़ रहा है। यूरोपवासी सामाजिक दृष्टि से व्यक्तिवादी हैं, किन्तु उनके विचार द्वैतवादी हैं, जो आध्यात्मिक साम्यवाद है। इस प्रकार एक व्यक्तिवादी विचारों से घिरी हुई समाजवादी संस्थाओं से निर्मित है और दूसरा साम्यवादी विचारों से घिरी हुई व्यक्तिवादी संस्थाओं से निर्मित है।[९]

तुम पाश्चात्य लोग व्यक्तिवादी हो। तुम कोई कार्य इसलिये करते हो कि वह तुम्हें प्रिय है। तुम्हारे मतानुसार – मैं यहाँ उपस्थित सब लोगों को धक्के मार सकता हूँ। – क्यों? इसलिये कि मुझे यह अच्छा लगता है। मैं इस स्त्री से क्यों विवाह करता हूँ? क्योंकि इससे मुझे प्रसन्नता होती है। – क्यों? इसलिये कि वह मुझे अच्छी लगती है। यह स्त्री मुझसे विवाह क्यों करती है? – क्योंकि मैं उसे प्रिय हूँ। बस, बात खत्म। इस अनन्त विश्व में मैं और मेरी पत्नी – बस ये ही दो प्राणी हैं। वह मुझसे विवाह करती है और मैं उससे – इससे किसी का कुछ बिगड़ता नहीं, इसके लिये अन्य कोई उत्तरदायी नहीं। आपके जॉन और जेन जंगल में जाकर रह सकते हैं और मनमाना जीवन बिता सकते हैं, परन्तु जब उन्हें समाज में रहना होगा, तब उनके विवाह का समाज के जीवन पर अत्यन्त भला या बुरा प्रभाव पड़ सकता है। सम्भव है, उनके बच्चे दानव बनें, सर्वत्र लूट-पाट करें, डाका डालें, आग लगायें, हत्या करें और मद्य-पान आदि नीच कर्मों में रत रहें।

तो भारतीय समाज का आधार क्या है? वह है जाति-नियम। मैं जाति के लिये पैदा हुआ हूँ और जाति के लिये जीवित हूँ। ... जाति में पैदा होने से सारा जीवन जाति के

नियमानुसार बिताना होगा। दूसरे शब्दों में, वर्तमान भाषा में कहा जा सकता है कि पश्चिमी देशों में मनुष्य जन्म से ही व्यक्तिपरक होता है और हिन्दू समाजपरक – नितान्त समाजपरक। अब शास्त्रों का कहना है, यदि हम तुम्हें उस स्त्री से विवाह करने की आज्ञा देते हैं, जिसे तुम पसन्द करते हो, और स्त्री को उस पुरुष से विवाह करने की अनुमति देते हैं, जिसे वह पसन्द करती है, तो इसका परिणाम क्या होगा? तुम्हें तो प्रेम हो जाता है, पर यदि उस स्त्री का पिता किसी मानसिक रोग या क्षय से पीड़ित हो, तब? स्त्री उस पुरुष की शक्ल देखकर मुग्ध हो जाती है, जिसका पिता एक भयानक शराबी था। तब नियम क्या कहता है? उसका कहना है कि ऐसी परिस्थिति में ये सभी विवाह अनियमित माने जायेंगे। शराबी, पागल और क्षयरोगी पुरुषों के बच्चों का विवाह नहीं किया जा सकेगा। लूले, लँगड़े, कुबड़े और पागलों का विवाह नहीं हो सकेगा – नहीं, कभी नहीं, यही शास्त्रों की आज्ञा है।

हिन्दू कहता है – "हम समाजवादी हैं। हम किसी एक पुरुष या एक नारी के व्यक्तिगत सुख के लिये हजारों अन्य लोगों पर कष्ट नहीं लाद सकते।"[१०]

हिन्दुओं के प्राचीन रीति-रिवाज के अनुसार, पुराने जमाने से ही प्राथमिक शिक्षा ग्राम-पंचायत के अधीन है। अति प्राचीन काल से सारी भूमि राष्ट्र या राजा की समझी जाती है। भूमि पर व्यक्ति-विशेष का कोई अधिकार नहीं होता। भारत में सारा राजस्व भूमि के लगान से ही आता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति सरकार से ही भूमि पाता है। यह भूमि पाँच, दस, बीस या सौ परिवारों की सामान्य सम्पत्ति के रूप से रहती है। वे ही भूमि की सारी व्यवस्था करते हैं, सरकार को मालगुजारी देते हैं, बीमारों की चिकित्सा के लिये एक वैद्य और बालक-बालिकाओं की शिक्षा के लिये तक शिक्षक का प्रबन्ध करते हैं, आदि-आदि।[११]

यूरोपीय सभ्यता की एक वस्त्र से तुलना की जा सकती है, जिसके उपादान हुए – एक न-अति-शीतोष्ण पहाड़ी समुद्र-तटमय प्रदेश इसका करघा बना और सर्वदा युद्धप्रिय बलिष्ठ अनेक जातियों की समष्टि से पैदा हुई एक सम्मिश्र जाति उसकी रूई हुई। इसका ताना हुआ आत्मरक्षा और धर्मरक्षा के लिये सर्वदा युद्ध करना। जो तलवार चला सकता है, वही बड़ा हुआ और जो तलवार चलाना नहीं जानता, वह स्वाधीनता का विसर्जन कर किसी वीर की छत्र-छाया में रहते हुए जीवन व्यतीत करने लगा। इस वस्त्र का बाना हुआ व्यापार-वाणिज्य। इस सभ्यता का साधन था – तलवार, आधार था – वीरता और उद्देश्य था – लौकिक और पारलौकिक भोग।[१२]

और आर्य सभ्यता रूपी वस्त्र का करघा है – विशाल नद-नदी, उष्णप्रधान समतल क्षेत्र। नाना प्रकार की आर्यप्रधान सुसभ्य, अर्धसभ्य, असभ्य जातियाँ इसकी कपास हैं। इसका ताना है – वर्णाश्रम-आचार और इसका बाना है – प्राकृतिक द्वन्द्वों और संघर्ष का निवारण।[१३]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ९, पृ. २२२; **२**. वही, खण्ड १०, पृ. १०३; **३**. वही, खण्ड १०, पृ. १०३-०४; **४**. वही, खण्ड १०, पृ. १०५; **५**. वही, खण्ड १०, पृ. ६८; **६**. वही, खण्ड ५, पृ. १८०; **७**. वही, खण्ड १०, पृ. १२०; **८**. वही, खण्ड ३, पृ. ३१७; **९**. वही, खण्ड ८, पृ. १३३-३४; **१०**. वही, खण्ड १, पृ. ३१४-१५; **११**. वही, खण्ड १, पृ. ३२०; **१२**. वही, खण्ड १०, पृ. १०९; **१३**. वही, खण्ड १०, पृ. १११

मृत्यु के बाद की गति

मृत्यु के समय मनुष्य जो कुछ सोचता है, उसी के अनुसार उसका अगला जन्म होता है; इसीलिए साधना की बड़ी आवश्यकता है। निरन्तर अभ्यास करते हुए जब मन सब तरह की सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है, तो उसमें सब समय केवल ईश्वर का ही चिन्तन होने लगता है, फिर तो मृत्यु के समय भी वह नहीं छूटता।

संसारासक्त बद्धजीव मृत्यु के समय भी संसार की ही बातें करता है। बाहर माला जपने, गंगा नहाने और तीर्थयात्रा करने से क्या होगा? भीतर संसार के प्रति आसक्ति हो, तो मृत्यु के समय वह अवश्य प्रकट होती है। इसी कारण बद्ध जीव उस समय कितनी ही आलतू-फालतू बातें बकता रहता है। तोता वैसे तो 'राधाकृष्ण' रटता है, पर जब बिल्ली पकड़ती है तो अपनी स्वाभाविक बोली में 'टें टें' करते हुए चिल्लाने लगता है।

– *श्रीरामकृष्ण*

चापलूसी और प्रशंसा

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

चापलूसी का आज के जमाने में बड़ा बोलबाला है। जो काम योग्यता के बल पर नहीं हो पाता, चापलूसी उसे आसान बना देती है। इसलिए आजकल सर्वत्र झुकाव चापलूसी की ओर दिखाई पड़ता है। विद्यार्थी जब देखता है कि परीक्षा में उत्तीर्ण होना उसके बूते की बात नहीं है, तो वह सम्बन्धित शिक्षक की चापलूसी करना शुरू कर देता है। जब मातहत देखता है कि पदोन्नति की योग्यता उसमें नहीं है, तो वह सम्बन्धित अधिकारी की चापलूसी में लग जाता है। मेरे एक परिचित हैं, जो कहते हैं कि आज शिक्षा में एक पाठ्यक्रम चापलूसी का भी होना चाहिए और उसे अनिवार्य रखा जाना चाहिए, क्योंकि आज चापलूसी किसी भी क्षेत्र में आगे बढ़ने का आवश्यक तंत्र बन गयी है। और चूँकि सभी लोगों को चापलूसी करना नहीं आता, इसलिए वह पाठ्यक्रम में अनिवार्य बना दिये जाने से एक अभाव की पूर्ति हो सकेगी।

दुनिया में दो तरह के लोग ही चापलूसी करते देखे जाते हैं – एक तो वे हैं जिनका पेशा ही चापलूसी है और दूसरे वे हैं जो योग्यता के अभाव में इसका सहारा लेते हैं। पहली श्रेणी के अन्तर्गत वे आते हैं, जिन्हें हम 'भाट' या 'दरबारी' कहते हैं। इनका पेशा ही मालिक को खुश करना होता है और इसके लिए वे सब प्रकार की बातें कह सकते हैं। दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे लोग हैं, जिनमें योग्यता नहीं होती और वे अपनी इस कमी को पूरा करने के लिए चापलूसी का अस्त्र पकड़ते हैं। इन्हें आजकल की भाषा में 'चमचा' भी कहते हैं। आजकल पहली श्रेणी के लोगों की संख्या घट रही है, जबकि दूसरी श्रेणी के लोग बेतहासा बढ़ रहे हैं, अपना स्वार्थ साधने के लिए चापलूसी का दामन थाम रहे हैं। चापलूसी और प्रशंसा - इन दोनों में अन्तर है। वैसे चापलूसी में भी प्रशंसा ही होती है, परन्तु चापलूस को प्रशंसक नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि कोई व्यक्ति अतिरंजित प्रशंसा करने का आदी हो, परन्तु इसी कारण यह आवश्यक नहीं कि वह चापलूस हो। प्रशंसक तथा चापलूस में अन्तर यह है कि प्रशंसक केवल प्रशंसा-योग्य गुणों की ही प्रशंसा करता है, जबकि चापलूस मनुष्य की कमियों तथा दुर्गुणों को भी अपनी प्रशंसा की चासनी में लपेट लिया करता है। चापलूस जानता है कि व्यक्ति में यह कमी है या उसमें यह दुर्गुण है, परन्तु अपने स्वार्थ को साधने के लिए वह उस कमी या दुर्गुण को उसकी अच्छाई के रूप में पेश करता है।

जब मैं किसी व्यक्ति की चारित्रिक कमी को जानता हूँ, तो मेरा एक तरीका यह हो सकता है कि मैं उसे नजरअन्दाज कर दूँ। पर चापलूस उसे नजरअन्दाज नहीं करता, बल्कि उस पर गुण का मुलम्मा लगाता हुआ उसे व्यक्ति के सामने पेश करता है। चापलूस की एक खासियत और होती है – वह सामने तो कमियों और दुर्गुणों को गुण के रूप में प्रस्तुत करते हुए व्यक्ति की प्रशंसा करता है, परन्तु पीठ पीछे बुराई करने से भी नहीं चूकेगा। इसीलिए ऐसा चापलूस जब देखता है कि उसका स्वार्थ सध नहीं रहा है, तो वह उस व्यक्ति का शत्रु हो जाता है और उसके अहित-साधन की भी चेष्टा करता है।

यह चापलूसी, यह चाटुकारिता एक मानसिक रोग है। जो चापलूस है और जो चापलूसी-पसन्द है, वे दोनों ही मानसिक दृष्टि से रोगी होते हैं। ऐसे लोग वस्तुनिष्ठ फैसला नहीं ले पाते। चापलूस व्यक्ति स्वाभिमान से रहित होता है, उसकी बुद्धि ओछी होती है। आत्मप्रशंसा-प्रिय व्यक्ति चट चापलूसों के फन्दे में पड़ जाता है और अन्ततोगत्वा अपना विनाश कर बैठता है। ऐसा व्यक्ति कान का कच्चा होता है। इससे बचने के लिए सबसे पहले व्यक्ति को यह भान होना चाहिए कि उसे आत्मप्रशंसा का रोग लग गया है और यदि वह उस रोग से छुटकारा पाना चाहता है तो उसे आत्मविश्लेषण करना सीखना होगा।

आत्मविश्लेषण चापलूसी की रामबाण दवा है। वह हमारा ध्यान अपनी कमियों की ओर आकर्षित करता है। आत्मविश्लेषण एक साफ दर्पण के समान है, जिसमें हम अपने सही रूप में दिखाई देते हैं। जो अपने को सही रूप में देख सकता है, वह कभी भी चापलूसी का शिकार नहीं हो सकता। फलस्वरूप, वह अन्याय-अविचार से बच जाता है और साथ ही धन की बरबादी से भी, क्योंकि चापलूस लोग तो आखिर भौतिक लाभ के लिए ही चापलूसी-पसन्द व्यक्ति को घेरे रहते हैं।

❖ ❖ ❖

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (८/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

लोचन चातक जिन्ह करि राखे
रहहिं दरस जलधर अभिलाषे ।।
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी ।
रूप बिंदु जल होहिं सुखारी ।।
तिन्ह कें हृदय सदन सुखदायक ।
बसहु बन्धु सिय सह रघुनायक ।। २/१२८/६-८

– "जिन्होंने अपने नेत्रों को चातक बना रखा है, जो सदा आपके दर्शन रूपी मेघों के लिये आकुल रहते हैं और जो विशाल नदियों, समुद्रों तथा सरोवरों का अनादर करते हुए आपके रूप-सौन्दर्य के एक बूँद से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, हे रघुनायक, आप उनके सुखदायी हृदय रूपी भवनों में बन्धु लक्ष्मण तथा जानकीजी के साथ निवास करें।"

अभी परम श्रद्धेय स्वामीजी से कल की कथा का संक्षिप्त सूत्र आपने सुना। यह परम्परा केवल रायपुर की ही है। इस साधना-भूमि में, भगवान श्रीरामकृष्ण देव, स्वामी विवेकानन्द जी के जन्मोत्सव से जुड़े हुये इस पावन अवसर पर, आपके समक्ष महर्षि वाल्मीकि ने प्रभु के निवास-स्थान के लिये चौदह प्रकार के भक्तों का जिस प्रकार के हृदय का वर्णन किया है, उसको हृदयंगम करने की चेष्टा करें।

भगवान श्रीराम से महर्षि वाल्मीकि ने पहले उन भक्तों का वर्णन किया, जो निरन्तर कथा श्रवण करते रहते हैं और उसी के द्वारा वे भगवान को अपने हृदय में पा लेते हैं। पर सब साधकों की रुचि एक जैसी नहीं होती, उनमें भिन्नता होती है। और भक्ति-साधना की यह विशेषता है कि इसमें किसी विशिष्ट साधना को प्रत्येक व्यक्ति पर बलात् लादने की चेष्टा नहीं की जाती। भक्ति-साधना का मूल संकेत ही यह है कि आपके हृदय की जो भावनाएँ हैं, जो संस्कार हैं, जो वृत्तियाँ हैं, उन्हें हम साधना की दिशा में मोड़ने का प्रयत्न करें। महर्षि ने श्रीराम के निवास हेतु जिस दूसरे स्थान का वर्णन किया, उसमें सौन्दर्य की प्रधानता है।

यह जो संसार में सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है, वह कितना आकर्षक होता है, व्यक्ति को कितना सम्मोहित करता है! अनादि काल से निरन्तर व्यक्ति के हृदय में सौन्दर्य के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता रहा है। सौन्दर्य कोई बुरी या घृणित वस्तु नहीं हैं, परन्तु सौन्दर्य के प्रति व्यक्ति की दृष्टि का परिणाम उसके जीवन में समस्याएँ उत्पन्न करता है और उसका मूल कारण यह है कि सौन्दर्य पर विचार करते समय हमारे सामने देह का ही सौन्दर्य होता है, क्योंकि आँखों से देह ही दिखाई देती है। और हम नेत्र, नासिका तथा शरीर की रचना को ही सामने रखकर सुन्दरता का मूल्यांकन करते हैं।

इसमें महत्त्व की पहली बात तो यह है कि सुन्दरता को देखकर व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है। साधारणतया सौन्दर्य को देखकर व्यक्ति के हृदय में बहुधा उपभोक्ता की ही वृत्ति आती है। एक वाटिका में एक फूल देखकर जब व्यक्ति को लगता है कि यह फूल सुन्दर है, तो बहुधा उसके मन में यही बात आती है कि इस फूल को तोड़ लें, इसकी सुगन्ध को अपनी नाक से लगा लें, या इसे अपने शरीर या वस्त्र में लगा लें। सौन्दर्य के प्रति व्यक्ति की यह दृष्टि उसे क्षणिक तुष्टि दे सकती है। थोड़ी देर बाद वह सुन्दर फूल मुरझा जायेगा और तब उसकी ओर उसकी दृष्टि जाती ही नहीं। तब वह फूल को फेंक देने में रंचमात्र संकोच नहीं करता।

तो मुख्य बात यह है कि पुष्प की सुन्दरता को देखकर व्यक्ति के हृदय में किस भाव का उदय होता है। यदि भोग-वासना की वृत्ति जाग्रत होगी, तो व्यक्ति भटक जायेगा और अन्त में वह स्वयं अपने लिये और जिसमें सुन्दरता देखता है, उसके प्रति भी उसका आकर्षण समाप्त हो जायेगा।

श्रीमद्-भागवत में वर्णन है – भगवान श्रीकृष्ण वंशी के द्वारा आवाहन करते हैं और ब्रज की गोपियाँ एकत्र हो जाती हैं। उसके बाद महारास का जो दृश्य, जो दिव्य-रस सामने आता है, वह बड़ा सम्मोहक है। जहाँ भगवान तथा गोपियाँ स्वर-ताल पर नृत्य कर रहे हों, जहाँ बंशी की मधुर ध्वनि हो, अन्य वाद्यों का रव गूँज रहा हो, वह दृश्य किसको सम्मोहित नहीं करेगा? पर कुछ देर बाद दृश्य पलट जाता है और श्रीकृष्ण सहसा रास-मण्डल से अन्तर्धान हो जाते हैं।

रसखानजी श्रीकृष्ण की बाललीला का वर्णन करते हुए कहते हैं कि बालक के रूप में भी यदि श्रीकृष्ण गोपियों से छाछ या मक्खन माँगते हैं, तो वे उनसे नृत्य करा लेती हैं –

ताहि अहीर की छोहरियाँ
छछिया भरि छाछ पे नाच नचावै ।

जो भगवान बाल-लीला और श्रृंगार-लीला में भी नृत्य करते दिखाई देते हैं, वे अन्तर्धान क्यों हो गये? उनका सम्मोहक नृत्य देखकर गोपियों के हृदय में प्रश्न उठा कि क्या कारण है कि जो ईश्वर सबको नचाता है या जिसकी माया संसार को नचाती है, वही आज स्वयं नृत्य कर रहा है? गोपियों को उन क्षणों में भगवान की कृपा का दर्शन नहीं हुआ, उनके स्नेह का दर्शन नहीं हुआ। उनकी दृष्टि तो अपनी सुन्दरता की ओर चली गई। उनको लगा कि हम इतनी सुन्दर हैं कि हमें देखकर श्रीकृष्ण भी नाचने लगते हैं। उसके बाद श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं। जब श्रीकृष्ण के सौन्दर्य को देखकर उनके अन्त:करण में श्रीकृष्ण की महिमा, श्रीकृष्ण का सौन्दर्य, श्रीकृष्ण की कृपा, इसका दर्शन न होकर अपनी ही विशेषता और सौन्दर्य का दर्शन होता है, तो भगवान अन्तर्धान हो जाते हैं।

अन्र्तधान का अर्थ यह है कि ईश्वर दिखाई देना बन्द हो जाता है। बस, यही सूत्र सबसे महत्त्व का है। गोपी शब्द का जो अर्थ है, वह बड़ा सांकेतिक है। गोपी की संस्कृत में जो व्युत्पत्ति की गई, यों तो ब्रज में जो गोप हैं उनकी पत्नियाँ गोपी हैं। पर उसको आध्यात्मिक अर्थ में लेते हुये कहा गया – **गोभ्य: पिबन्ति** – जो अपनी इन्द्रियों के द्वारा श्रीकृष्ण-रस का पान करती हैं, वे गोपियाँ हैं।

निर्गुण-निराकार ब्रह्म तो नेत्र का विषय नहीं हो सकता, दिखाई नहीं देता, पर जब वह भक्तों के भक्ति और भावना के वशीभूत होकर निर्गुण से सगुण बनता है, तब आप उसे नेत्र के द्वारा भी देख सकते हैं। इससे बढ़कर नेत्र का सौभाग्य क्या होगा? महाराज जनक भी जब विवाह के बाद भगवान श्रीराम को विदा करने लगते हैं, तब यही कहते हैं कि मैंने तो वेदान्त में यही पढ़ा-सुना और अनुभव किया है कि वह ब्रह्म मन-बुद्धि-वाणी और इन्द्रियों का विषय नहीं है –

मन समेत जेहि जान न बानी ।
तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ।।
महिमा निगमु नेति कहि कहई ।
जो तिहुँ काल एकरस रहई ।। १/३४१/७-८

पर बड़े आश्चर्य की बात है कि वही ब्रह्म आज हमारे नेत्रों का विषय बन गया है। जब ईश्वर अनुकूल होता है, तभी वह ऐसा दिव्य अवसर प्रदान करता है कि व्यक्ति उसके रूप-दर्शन के द्वारा अपने नेत्रों को धन्य कर सके –

नयन बिषय मो कहुँ भयउ सो समस्त सुखमूल ।
सबइ लाभु जग जीव कहँ भयें ईसु अनुकूल ।। १/३४१

तो नेत्रों के द्वारा दर्शन करने का संकेत यही है कि वह अन्तर्यामी और सर्वव्यापी के रूप में अनुभूति का विषय है, इन्द्रिय का विषय नहीं है, पर भक्त उसे केवल अन्तरंग में ही नहीं, बहिरंग विश्व में भी उन्हें देखकर अपने इन्द्रियों के लिये भी उन्हें उपभोग्य बनाना चाहता है। इसीलिये पुष्प-वाटिका में जनकनन्दिनी सीता जब श्रीराम को देख नेत्र मूँदकर ध्यान में निमग्न हो जाती हैं, तो सखियाँ बड़ी सांकेतिक भाषा में कहती हैं – आप जरा नेत्र खोलकर तो देखिये। उन्हें संकोच न लगे, इसलिये वे नये ढंग से कहती हैं – लगता है, पार्वतीजी का पूजन करने के बाद आप अभी भी उसी भाव में डूबी हुई हैं, उन्हीं का ध्यान कर रही हैं, पर हम जिसे देखने आये थे, वह तो सामने खड़ा है। और तब सीताजी नेत्र खोलकर संकोचपूर्ण नेत्रों से श्रीराम का दर्शन करती हैं –

बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू ।
भूपकिसोर देखि किन लेहू ।।
सकुचि सीयँ तब नयन उघारे । १/२३४/२-३

वस्तुत: गोपी-भाव या पुष्प-वाटिका में – सर्वत्र संकेत यही है कि सौन्दर्य तो व्यक्ति को प्रिय लगनेवाली वस्तु है। सौन्दर्य की निन्दा करनेवाले भी उससे सम्मोहित हुये बिना नहीं रह पाते। गोस्वामीजी ने व्यंग्य किया – जो मुनि संसार और उसके सौन्दर्य को देखकर उसे मिथ्या कहते हैं, वे भी जब सम्मोहन सामने आता है तो विचलित हो जाते हैं –

सोउ मुनि ग्याननिधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि ।
बिबस होइ हरि जान नारि बिष्णु माया प्रगट।। ७/१५५

ऐसी स्थिति में भक्तों ने सौन्दर्य की निन्दा करने के स्थान पर सौन्दर्य का वर्णन किया। सौन्दर्य को देखो, पर साथ ही सौन्दर्य को देखनेवाली आँखें भी चाहिये। जब श्रीकृष्ण क्षण भर के लिये गोपियों की दृष्टि से तिरोहित हो जाते हैं, तो गोपियाँ व्याकुल होकर उन्हें ढूँढ़ने निकल पड़ती हैं। जब वे आगे जाती हैं, तो सहसा एक फूल खिला हुआ देखती हैं। फूल बड़ा सुन्दर था। उसकी सुगन्ध भी भीनी-भीनी बड़ी मधुर थी। साधारण समय होता, तो शायद तोड़ लेती, अपने जूड़े में श्रृंगार कर लेतीं, पर आज तो दृष्टि बदली हुई है। उस फूल को तोड़कर हम माला बना लें, गले में पहन लें, श्रृंगार कर लें, यह वृत्ति नहीं है। एक गोपी दूसरी से कहती है – श्रीकृष्ण के चरण-चिह्न तो दिखाई नहीं दे रहे हैं, अत: हम जानती हैं कि श्रीकृष्ण यहीं तक आये थे, पर इस लता में जो फूल है, इससे पूछना चाहिये कि श्रीकृष्ण यहाँ से किधर गये? दूसरी गोपी बोली – जब चरण-चिह्न ही नहीं हैं, तब तुम कैसे कह सकती हो कि कृष्ण यहाँ तक आये थे?

नन्ददासजी के शब्द बड़े भावपूर्ण हैं – श्रीकृष्ण यहाँ अवश्य आये थे, उन्होंने क्षण भर के लिये इस लता को पकड़ लिया और उनके स्पर्श से लता को होनेवाली प्रसन्नता ही पुष्प तथा सुगन्ध के रूप में प्रगट हो रही है। उनके स्पर्श के बिना यह सौन्दर्य और सुगन्ध कहाँ से आता –

पूछौ री इन लतनि फूलि रही फूल न जोइ ।
बिना पिया के परस कबहुँ न अस फुल होइ ।।

यह जो दृष्टि है, वह जब प्राप्त होती है, तब माने सौन्दर्य को देखने की वह दृष्टि उन्हें कितना भाव प्रदान करती है। उनको मृग दिखाई देते हैं और मृग के नेत्र तो विशाल होते हैं। हिरण की आँखें बड़ी होती हैं, यहाँ तो कोई भी देख सकता है, पर मृग के नेत्रों को देखकर वे कहती हैं कि यह जो नेत्र की विशालता है, इन्होंने कृष्ण को अवश्य देखा है, तभी इनकी आँखें आनन्द से बड़ी हो गई हैं –

डहडहे हैं इनके नैन कहूँ देखे हैं इन हरि।

और इनके आँखों में जो आनन्द है, वह बताता है कि इन्होंने देखा है। और इसका अर्थ है कि भक्ति-शास्त्र ने सौन्दर्य की अनित्यता पर उतना बल नहीं दिया, जितना भगवान की सुन्दरता और भगवान की सुन्दरता को देखनेवाली दृष्टि की ओर संकेत किया।

इसीलिये भगवान राम की सुन्दरता के लिये उसके दर्शन के लिये जिस प्रसंग को गोस्वामीजी ने चुना वह कौन-सा है। जब भगवान श्रीराम अयोध्या में भी हैं। उनका वह रूप भी बड़ा सम्मोहक है। सभी लोग उनकी सुन्दरता को देखकर, बालक राम की शोभा को देखकर, माताएँ, अयोध्यावासी आनन्द में मग्न हो जाते हैं, आनन्द में डूब जाते हैं। पर उनके सौन्दर्य का यदि सर्वाधिक विस्तृत वर्णन आप कहीं पाना चाहें, तो आपको कहाँ मिलेगा। जब महर्षि विश्वामित्र के साथ श्रीरामभद्र और श्री लक्ष्मण जनकपुर में पधारते हैं, उनकी सुन्दरता का वर्णन कितने विस्तार से किया, कितनी बार किया, कितने रूपों में किया कि श्रीराम जब नगर देखने गये, तो उनकी शोभा कैसी थी, श्रीराम जब वाटिका में गये तो उनकी शोभा कैसी थी। श्रीराम जब घोड़े पर बैठे, तो उनका रूप कैसा था। जब श्रीराम की आरती उतारी गई, तब वे कैसे लग रहे थे। विवाह के मण्डप में श्रीराम की शोभा कैसी है। जब भाँवरी होने लगती है, तब श्रीराम की सुन्दरता किस रूप में है। इतने बार उनकी सुन्दरता का वर्णन किया गया, आश्चर्य होता है।

एक बार किसी की सुन्दरता का वर्णन कर दिया गया, पर बार-बार सुन्दरता का वर्णन उसके पीछे निहित तात्पर्य दो हैं। क्या? एक तो यह नगर किसका है? दशरथ महान् तो हैं, पर शरीर से ऊपर उठे हुये नहीं हैं। शरीर से उठे हुये तो केवल महाराज जनक हैं, जिनको विदेह की उपाधि मिली हुई है। सुन्दरता देखना ही वास्तव में देखना है। सौन्दर्य हमें देह की ओर ले जाता है या देह से ऊपर की ओर ले जाता है? सौन्दर्य यदि देह की ओर ले जायेगा, तो व्यक्ति की वृत्ति नीचे-से-नीचे जायेगी। और सौन्दर्य यदि व्यक्ति की वृत्ति को ऊपर उठायेगा, तो वह ब्रह्म के सौन्दर्य तक पहुँच जायेगा। इसलिये चुनाव करते हुये उन्होंने कहा कि – भाई, यह तो विदेह का नगर है। विदेह तो वेदान्ती हैं। और वेदान्ती रूप को मिथ्या मानता है। दो बातें गोस्वामीजी ने कही। उन्होंने कहा कि विदेह वेदान्ती तो थे, रूप को मिथ्या मानते थे, पर श्रीराम को देखने से पहले। देखने के बाद उनकी वह धारणा नहीं रही। इसके साथ-साथ उन्होंने कहा कि यहाँ विदेह ही नहीं, सुनयना भी तो हैं। राम की सुन्दरता को देखने के लिये जो आँखें चाहिये, विदेह की पत्नी का नाम कितना सुन्दर चुना गया? सुनयना और गोस्वामीजी को तो यह नाम इतना पसन्द आया कि जब वे जनकपुर की स्त्रियों के वार्तालाप का वर्णन करते हैं तो किसी ने उनसे पूछा कि उन स्त्रियों का नाम तो बताइये। तो जो शृंगार के ग्रन्थ हैं, उस तरह की उपासना के, उसमें सखियों के नाम हैं – चन्द्रकला, लक्ष्मणा, सुलोचना आदि अनेक सखियों का वर्णन है। पर गोस्वामीजी तो कहते हैं कि जनकपुर की एक नारी जब दूसरी नारी को सम्बोधित करती है, बोलती है, तो वह कोकिल-बैनी है। कोयल की तरह बोल तो रही है, पर सामनेवाली का कुछ नाम तो होगा? तो गोस्वामीजी ने लिखा –

कहहिं परसपर कोकिल बयनीं।
एहि बिआहँ बड़ लाभु सुनयनीं ।। १/३१०/७

एक-दूसरे को सुनैनी की उपाधि देती हैं। विदेहत्व और सुनैना – विदेहनगर और देह से ऊपर उठानेवाला सौन्दर्य – यहाँ इन दोनों का संयोग है। जिस समय विदेह ने, महाराज जनक ने पहली बार विश्वामित्रजी के साथ जाते हुए श्रीराम और लक्ष्मण को देखा, तो स्वयं जनक ने उनसे कहा – महाराज, मुझे तो लगता है कि ये साक्षात् ब्रह्म हैं। विश्वामित्रजी ने कहा – ब्रह्म कैसे लग रहे हैं? बोले – आज तक मैं ब्रह्मसुख में ही निमग्न था। मेरी दृष्टि में ब्रह्म निर्गुण-निराकार था और मैं उस ब्रह्मानन्द में ही लीन रहता था, पर आज इन्हें देखकर मन ने ब्रह्मसुख का परित्याग कर दिया –

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा ।। १/२१६/५

गोस्वामीजी की लेखन-कला अद्वितीय है। उनका शब्द कितना सुन्दर है – मैंने नहीं, मेरे मन ने ही ब्रह्म के सुख को छोड़ दिया। श्रीराम को देखकर मन ने कह दिया कि बहुत दिन आपने संसार को मिथ्या बना करके हमें देखने से रोक दिया, हम आज आपकी बात नहीं मानते। आप चाहे जितने भी बड़े योगी हों, या ज्ञानी हों, पर आज तो हम देखेंगे, आँखों का उपयोग करेंगे। यह तो जनक का पतन हुआ। ब्रह्मसुख को छोड़कर विदेह मानो अपनी निष्ठा से च्युत हो गये। पर गोस्वामीजी ने कहा – नहीं, जनक निष्ठा से च्युत नहीं, अपितु उससे भी ऊपर उठ गये। विदेह का विदेहत्व विचारजन्य था, देखने में तो उनके सामने भी देह, शरीर-सौन्दर्य होता था, लेकिन वे विचार से जानते थे कि ये प्रतीति मात्र है, वास्तविक सत्य नहीं। अब जब उन्होंने श्रीराम के

सौन्दर्य को देखा, तो क्या उनको देह की सुन्दरता सच लगने लगी? गोस्वामीजी बोले – पहले तो वे केवल विचार से विदेह थे, पर श्रीराम को देखने के बाद अब वे और अधिक विदेह हो गये, अब तो उन्हें शरीर तक का भान नहीं रहा –

मूरति मधुर मनोहर देखी ।
भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी ।। १/२१५/८

सौन्दर्य की यह दृष्टि, यदि हमें सौन्दर्य क्रमशः रस लेने की सूक्ष्म वृत्ति की ओर अग्रसर कराये और सौन्दर्य का दर्शन करते हुये अन्ततोगत्वा हमें उसमें ब्रह्म के सौन्दर्य का बोध हो, तो सौन्दर्य परम कल्याणकारी है। पर ऐसा होता नहीं। बहुधा यह असम्भव-सा होता है। इसीलिये यदि कवियों ने सुन्दरता की निन्दा या भर्त्सना की, तो उसका उद्देश्य केवल यही है कि व्यक्ति इस सौन्दर्य की ओर आकृष्ट न हो। इसलिये यदि आप पूरे विदेह-प्रसंग को, जनकपुर के प्रसंग को पढ़ेंगे, तो आपको एक सांकेतिक दृष्टि मिलेगी। और वह सांकेतिक दृष्टि यही है कि जनकपुरवासी सर्वतोभावेन सौन्दर्य के प्रति उनका आकर्षण ऐसा बढ़ा हुआ है सीताजी जब गौरी -पूजन के लिये पुष्प-वाटिका में आईं हुई थीं, तो एक सखी ने सूचना दी कि दो सुन्दर राजकुमार आये हुये हैं। सीताजी के मन में उत्कण्ठा तो हुई, पर मर्यादा का प्रश्न था।

सुनि हरषीं सब सखीं सयानी ।
सिय हियँ अति उतकंठा जानी ।। १/२२९/३

मिथिला में अगणित राजकुमार आये हुये हैं और जनक-नन्दिनी तो प्रतिज्ञा के बन्धन में बँधी हुई हैं कि जो धनुष तोड़ेगा, उसी से उनका विवाह होगा। तो धनुष टूटने से पहले ही किसी राजकुमार की सुन्दरता सुनकर देखने के लिये जाना, क्या उचित है? क्या यह मर्यादा के अनुकूल है? मानो यह अन्तर्द्वन्द उन्हें रोकता है। और उनके इस अन्तर्द्वन्द को मिटाने के लिये सखी ने बड़ा ही महत्त्वपूर्ण वाक्य कहा – ये वही राजकुमार हैं, जो कल मुनि के साथ आये –

एक कहइ नृपसुत तेइ आली ।
सुने जे मुनि संग आये काली ।। १/२२९/४

अन्य राजकुमारों में और इनमें बहुत बड़ा अन्तर है। अन्य राजकुमार आये हैं सेना लेकर, मंत्रियों को लेकर, परन्तु ये तो मुनि-संग आये हैं। इसका अर्थ है कि जो मुनि सब कुछ छोड़कर वन में निवास करते हैं, यदि वे स्वयं उस सुन्दर राजकुमार को लेकर हैं, तो यदि हम मुनि का दर्शन करें, तो राजकुमार का दर्शन होगा और राजकुमार का दर्शन करें, तो भी ध्यान आयेगा कि ये तो मुनि के साथ आये हुये हैं। मानो यह संकेत था कि मुनि भी इनकी सुन्दरता की ओर आकृष्ट हुये हैं। तो ठीक है, विश्वामित्रजी मुनि हैं, वे जो कुछ करें, उनको कौन रोक सकता है। मगर हम तो नगर में रहनेवाली राजकुमारी हैं, हमारी एक मर्यादा है। उस सखी ने बड़ी मधुर बात कही – ये जो राजकुमार आये हैं, इनके विषय में आप जानती हैं कि जब से ये आये हैं, तब से अब तक इस विदेहनगर में ऐसा कोई स्त्री या पुरुष नहीं है, जो इनके सौन्दर्य-मोहिनी के वशीभूत न हो गया हो –

जिन्ह निज रूप मोहनी डारी ।
किन्हे स्वबस नगर नर नारी ।। १/२२९/५

आलोचना कौन करेगा? जब सभी उसी रंग में रँगे हुए, उन्हीं के आनन्द में डूबे हुये हैं, तो आलोचना कैसे करेंगे। और जानती हो, आजकल जनकपुर में उपनिषदों की कथा – वेदान्त की चर्चा बन्द हो गई है। – तो क्या होता है? बोले – सभी एक स्वर से इनकी सुन्दरता का वर्णन करते हैं। इसलिये सखि ने घोषित कर दिया – ये लोग ऐसे देखने योग्य हैं, इसलिये आप भी अवश्य देखिये –

बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू ।
अवसि देखिअहिं देखन जोगू ।। १/२२९/६

नगर के सभी स्त्री-पुरुष सम्मोहित होकर आनन्द ले रहे हों और हम इतने निकट पहुँच करके भी दर्शन से वंचित रह जायँ, तो इससे बढ़कर दुर्भाग्य की बात क्या होगी? और तब जनक-नन्दिनी सीता उनकी खोज में चल पड़ती हैं।

मर्यादा टूटी, पर मर्यादा टूटकर कहाँ गयी? मर्यादा का एक अवरोध है और उस मर्यादा को स्वीकार करना समाज में रहनेवाले व्यक्ति का कर्तव्य है। लेकिन मर्यादा से ऊपर भी एक स्थिति होती है। जब मनुष्य व्यवहार की भूमि में नहीं होता, जब वह परमार्थ की भूमि में होता है, भक्ति की भूमि में होता है, उस समय भी अगर वह अपने को मर्यादा में जकड़ कर रखे, तो उससे बढ़कर अभागा कोई नहीं होगा। इसलिये मानो मर्यादा-धनुष टूटने के पहले ही श्रीसीताजी के द्वारा श्रीराम का दर्शन यह सूचित करता है कि व्यावहारिक भूमि में, मर्यादा और भाव की भूमि सर्वथा भिन्न है। और जैसे जिस राष्ट्र में, जिस राज्य में जाये, तो उस अलग राज्य के अलग-अलग कानून होते हैं। जिस राज्य का जो संविधान है, नियम है, वही उस राज्य में माना जाता है। तो इस मर्यादा-राज्य का संविधान अलग है और प्रेम-राज्य का संविधान अलग है। और इसीलिये प्रेम-राज्य में वह मर्यादा का संविधान नहीं चलता या व्यावहारिक भूमि में एक व्यक्ति के जीवन में जो होना चाहिये, वह प्रेम-राज्य में नहीं होता।

अब गोस्वामीजी के सामने बड़ा कठिन काम था। – यदि मर्यादा की रक्षा करनी है, तो दर्शन के लिये ही नहीं जाना चाहिये। दर्शन के लिये गईं तो उनके प्रति सम्मोहन का उदय नहीं होना चाहिये। और उसके बाद भी सबसे महत्त्व का पक्ष यह था कि अगर वे सखियों के कहने से गईं, तो इतनी दूर चलकर आप किसी के पास पहुँचे और उससे आप दो बातें भी न करें, तो ऐसा लगेगा मानो आप अमृत-सरोवर

के सामने हों और उसमें से आप चुल्लू भर भी न पीयें। केवल दर्शन करके चले आयें। अब गोस्वामीजी ने कितना सुन्दर निर्वाह किया। गोस्वामीजी ने कहा – व्यवहार के क्षेत्र में मर्यादा अपने आप में है, पर भाव की भूमि में मर्यादा के राज्य में वे दर्शन करने के बाद एक शब्द नहीं बोलतीं। पर भाव के राज्य में? बातचीत ही नहीं, पूर्ण मिलन का भी दिव्य रस वहाँ पर उपस्थित हो गया। दोनों का निर्वाह जिस समय वे दर्शन करके बिना बोले ही, बिना एक शब्द का प्रयोग किये ही चलने लगती हैं तो गोस्वामीजी ने मर्यादा का एक शब्द लिख दिया। बोलीं – मैं तो पिताजी की कन्या हूँ। और उनकी जो धारणा है, उसे मैं स्वीकार करती हूँ। चाहे वे कितने भी सुन्दर क्यों न हों, पर मैं तो पिता के वशीभूत हूँ, उनके संकल्प और मर्यादा के विरुद्ध कुछ भी नहीं करूँगी –

जानि कठिन सिवचाप बिसूरति ।
चली राखि उर स्यामल मूरति ।। १/२३५/१
फिरी अपनपउ पितुबस जाने ।। १/२३४/८

यह मर्यादा तो राज्य का रक्षक है, पर भावराज्य में तो बिल्कुल भिन्न विधान है। भावराज्य के लिये ही गोस्वामीजी लिखते हैं कि बिना कुछ बोले सीताजी लौट आयीं, एक शब्द भी नहीं बोलीं। और दूसरी ओर कहते हैं – विदेह में विदेह का मिलन हो गया। विदेह के विदेहनगर में विदेह-वाटिका में वैदेही का ऐसा विलक्षण मिलन हुआ, जिसमें देह का कहीं सन्दर्भ ही नहीं, देह का कोई सम्पर्क ही नहीं और तब वह आपको दिखाई देगा कि भई, बातचीत की तो बात ही क्या? आप उनको निमंत्रण भी दीजिये कि आप आइये, मेरे यहाँ ठहरिये। परन्तु और केवल ठहराने से क्या? आपको उसका सत्कार भी तो करना है। भोजन कराना है, जो वस्तुयें प्रिय है, उन्हें भेंट भी करना है।

गोस्वामीजी कहते हैं – वहाँ तो मर्यादा के राज्य में, पिता के वश में हैं और चली जा रही हैं। और यहाँ भाव के राज्य में? पिता के वश में नहीं हैं। मर्यादा के राज्य में पिता और सम्बन्धियों का सम्बन्ध है और प्रेम के राज्य में? गोस्वामीजी कहते हैं – वहाँ पर सीताजी ने श्रीराम को केवल देखा ही नहीं, बिना बोले ही निमंत्रण भी दिया। निमंत्रण? श्रीराम क्या कम मर्यादावादी हैं? जिनको यह चिन्ता रहती है कि आज तक मैंने किसी नारी के सौन्दर्य की ओर दृष्टि उठाकर नहीं देखा, वे क्या उस निमंत्रण को अस्वीकार कर देते हैं? गोस्वामीजी कहते हैं – नहीं। निमंत्रण दिया गया, बिना शब्द का निमंत्रण और जिन्हें निमंत्रण दिया गया था, वे आ भी गये। पर उन्होंने मार्ग जो चुना, वह कौन-सा था? वे नेत्र-मार्ग से सीताजी के हृदय में आये –

लोचन मग रामहि उर आनी । १/२३२/७

उसके पश्चात, इतना अन्तरंग, हृदय में जिसको आमंत्रित किया गया, उसका स्वागत-सत्कार भी तो हुआ होगा। कोई चन्दन लगाता है, माला पहनाता है, भोजन कराता है। और सीताजी ने क्या किया? गोस्वामीजी ने एक साथ मर्यादा और भाव दोनों को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। गोस्वामीजी अब यदि कहें कि सीताजी यह बोलीं या उसको और भी अन्तरंग रूप दे दें, वह तो श्रृंगार रस का एक रूप हो जायेगा। और यदि कुछ भी न कहें, तो अधूरापन रह जायेगा। गोस्वामीजी ने अपनी काव्य-शक्ति का अद्भुत परिचय दिया। किसी ने पूछा – महाराज, आपने यह तो देख लिया कि श्रीराम नेत्रमार्ग से हृदय में आये, लेकिन उसके बाद सीताजी ने हृदय-मन्दिर में उनका कैसे सत्कार किया, यह भी तो बता दीजिये? और गोस्वामीजी ने एक वाक्य में ही मर्यादा और श्रृंगार दोनों की पराकाष्ठा कर दी। बोले – उन्होंने पलकों के किवाड़ बन्द कर लिये –

दीन्हे पलक कपाट सयानी ।। १/२३२/७

और जब उन्होंने किवाड़ बन्द कर लिये, तो अब आगे लिखने का हमें क्या अधिकार है? गोस्वामीजी कहते हैं कि जहाँ पर आदिशक्ति का वह दिव्य मिलन हुआ, उस दृश्य में कौन प्रविष्ट हो सकता है? सीताजी के आँखों में क्या है, उनके हृदय में क्या है, यह व्यक्ति के अधिकार-सीमा से परे है। हम तो इतना ही कह सकते हैं, यह मानो इतना दिव्य मिलन है कि जिस मिलन में कोई मर्यादा का व्यवधान, कोई बाहरी व्यवधान, कुछ नहीं है और वह भावराज्य की वस्तु है, विदेहत्व से भरा हुआ है। सौन्दर्य – और विदेह बनकर उसका आनन्द लेना और विदेहत्व में स्थित रहना, यही मानो जनकपुर में श्रीराम की सुन्दरता के वर्णन का उद्देश्य है।

इसकी दूसरी परिणति क्या है? आगे चातक की बात कही गयी थी। जब चातक गंगा में गिरा और गंगा-जल की बूँद उसने मुँह में पैठने नहीं दिया। उससे उस चातक की त्याग-वृत्ति का ही परिचय मिलता है। वह त्याग-वृत्ति क्या है? व्यक्ति चाहता है कि मृत्यु के समय हम गंगातट पर हों या दूर भी हों तो गंगाजल की कुछ बूँदें हमारे मुख में डाल दी जायँ। भावना यह है कि मुख में यदि गंगाजल चला जाय, तो मरने के बाद परलोक मिलेगा। तो लोकसुख की कामनावाले व्यक्ति तो साधारण स्तर में हैं ही, परन्तु परलोक का सुख भी तो सुख ही है। उसको पाने की इच्छा। पर जब चातक ने मुँह में गंगाजल को भी नहीं पैठने दिया तो उसका तात्पर्य है कि उसको परलोक का सुख भी नहीं चाहिये। जो परलोक के सुख को भी छोड़ चुका हो। किसी ने कहा – श्री भरतजी में स्वार्थ नहीं है तो परमार्थ होगा? गोस्वामीजी यही तो लिखते हैं –

परमारथ स्वारथ सुख सारे ।
भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ।। २/२८९/७

जब व्यक्ति स्वार्थ और परमार्थ दोनों से ऊपर उठ जाता है, तब उसे सर्वस्व-त्याग कहते हैं। भगवान राम लक्ष्मण से बोले – "तुम धर्म का पालन करो। मत भूलो कि जिस राज्य में प्रजा दुखी रहती है, उसका राजा नरक में जाता है।"

सो नृपु अवसि नरक अधिकारी ।। २/७१/६

नरक का भय ही धर्मशास्त्र द्वारा दिखाये जानेवाला सबसे बड़ा भय है। यदि आप सत्कर्म करेंगे, तो स्वर्ग मिलेगा और दुष्कर्म करेंगे, तो नरक जाना पड़ेगा। भगवान राम ने अप्रत्यक्ष रूप से संकेत कर दिया – "याद रखो, मेरे साथ जाते हुये यदि तुम कर्तव्य पालन नहीं करते, अयोध्या की प्रजा दुखी रहती है, तो पिताजी को कोई दोष नहीं। वे तो मूर्छित हैं। और भाई भरत का भी कोई दोष नहीं। तुम्हीं राजा के प्रतिनिधि हो। यदि तुम राज्य छोड़कर चले जाते हो और प्रजा दुखी होती है, तो तुम्हीं दोष के भागी होगे।

लेकिन चातक तो गंगाजल का भी पान नहीं करता। लक्ष्मणजी ने कहा – प्रभो, आपने जिस धर्म का उपदेश दिया, उसकी श्रेष्ठता में मुझे जरा भी सन्देह नहीं है, पर साथ ही मैं यह जानना चाहता हूँ कि यदि कोई व्यक्ति धर्म का फल न चाहता हो, तो क्या उसे धर्म का पालन करने को बाध्य किया जा सकता है? सीधी-सी बात है, आप जो पाना चाहते हैं, उसके लिये जो करना चाहिये, वह कीजिये। पर यदि आप पाना ही नहीं चाहते और कोई कहे कि उसे पाने के लिये आप ऐसा कीजिये, तो वह भला क्यों करेगा? मुझे तो उसकी आवश्यकता नहीं है। लक्ष्मणजी ने कहा – महाराज, मैंने सुना है कि धर्म के तीन फल होते हैं। जो धर्म का पालन करता है, उसे समाज में कीर्ति मिलती है कि ये बड़े मर्यादावादी हैं, बड़े कर्तव्य-परायण हैं, धर्म का पालन करते हैं। और शास्त्र कहते हैं कि मरने के बाद उन्हें स्वर्ग मिलता है और फिर जब वे श्रेष्ठ कर्म अर्थात् धर्म का पालन करते हैं, तो उन्हें लक्ष्मी अर्थात् धन-समृद्धि मिलती है। धर्म पालन के ये तीन फल हैं – कीर्ति, सद्‌गति और ऐश्वर्य। तो महाराज, यह आपके उपदेश बड़े सुन्दर हैं, पर मेरे लिये नहीं, बल्कि उनके लिये हैं, जो इन तीनों को चाहते हैं। मैं तो यह सब कुछ चाहता ही नहीं –

धरम नीति उपदेसिअ ताही ।
कीरति मूति सुगति प्रिय जाही ।। २/७२/७

कठिनाई तो तब होती है, जब व्यक्ति फल तो चाहे धर्म का और दिखाने की चेष्टा करे प्रेम। अधिकांश प्रेमी लोगों की स्थिति यही है। एक भक्त वृन्दावन में रहते थे। बाद में विवाह की बात आई, घर चले गये। विवाह हुआ, तो ऐसे घर में, जहाँ वे घर-जमाई के रूप में स्वीकृत हुए। उनके ससुर के कोई अन्य कन्या या पुत्र नहीं थे। एक वर्ष बाद वे स्वामीजी महाराज के दर्शन करने आये। स्वामीजी ने पूछा – "तुम गृहस्थ जीवन में प्रसन्न तो हो?" वे बोले – "महाराज, मैं तो बड़ा दु:खी हूँ।" – "क्यों?" बोले – "ससुरजी मेरा सम्मान नहीं करते, चाहे जो बोल देते हैं, स्वयं को बड़ा अपमानित अनुभव करता हूँ।" स्वामीजी ने कहा – "यह दोष तो उनका नहीं, तुम्हारा है।" – "मेरा क्या दोष है?" बोले – "तुम बेटे जैसा सम्पत्ति चाहते हो और दामाद जैसा सम्मान चाहते हो। दोनों कैसे मिलेंगे? बेटे से तो पिता सब कुछ कह लेता है। दामाद जब दो-चार या छह दिन के लिये ससुराल जाता है, तो उसका बड़ा सम्मान होता है। अत: भूल तुम्हारी है। अब से तुम उन्हें पिता मान लो और बेटे के रूप में उनकी बातें सुनो, तो तुम्हारा सारा दुख मिट जायेगा।"

लक्ष्मणजी का अभिप्राय यह है कि यदि कोई व्यक्ति कहे कि मुझे कीर्ति चाहिये, स्वर्ग चाहिये और ऐश्वर्य भी चाहिये, पर मैं धर्म का पालन नहीं करूँगा, तो वह व्यक्ति बड़ा नासमझ है। पर जिसे चाहिये ही नहीं, उसके लिये धर्म पालन की बाध्यता कैसी! न चाहने से बढ़कर कोई त्याग नहीं है। और वह लक्ष्मण जी और भरतजी के जीवन में है। उन्हें कुछ नहीं चाहिये।

गोस्वामीजी ने भगवान राम से प्रार्थना की – प्रभो, आप मुझे पक्षी बना दीजिये, कोई वृक्ष बना दीजिये, कोई लता बना दीजिये। प्रभु बोले – यह उन्नति है या अवनति। जड़ से मनुष्य बनकर व्यक्ति चेतना की दिशा में बढ़ता है। मनुष्य-शरीर सबसे दुर्लभ है। और तुम चेतन से जड़ बनना चाहते हो? इसका फल तो नरक है। तो वे कहते हैं – मुझे आप अपने यहाँ पक्षी के रूप में, लता के रूप में अपने निकट बुला लें और इसके बदले मुझे नरक में जाना पड़े, तो मैं सुखी रहूँगा। और इसे छोड़कर मुझे स्वर्ग में जाना पड़े, तो वह स्वर्ग भी मेरे लिये नरक के समान होगा –

खेलिबे को खग मृग तरु-कंकर ह्वै
रावरो राम हौं रहिहौं ।
यहि नाते नरकहुँ सचु या बिनु
परम पदहुँ दुख दहिहौं ।। (विनय प., २३१)

यह ऊँची वृत्ति उन लोगों के लिये है, जो स्वार्थ ही नहीं, परमार्थ से भी ऊपर उठ चुके हैं। परमार्थ चाहनेवाला तो स्वार्थी से ऊँचा है ही, परन्तु स्वार्थ और परमार्थ दोनों से ऊपर उठ जाना सर्वोच्च अवस्था है। जनकपुर-वासियों में आपको यही भावना दिखाई देती है। ❖ **(क्रमश:)** ❖

समृद्धि की आधार-शिला (५)

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्भवत: यहाँ स्वावलम्बन एवं अनुशासन के संवर्धन के उपायों पर किंचित् सविस्तार चर्चा करना विषयान्तर न होगा।

स्वावलम्बन

स्वावलम्बन का सरल शब्दों में अर्थ है – स्वयं की अन्तर्निहित शक्तियों एवं योग्यता पर विश्वास। यह आत्मविश्वास केवल कार्य करने पर ही विकसित हो सकता है। यदि व्यक्ति हाथ में लिये कार्य को आरम्भ न करे तो वह अपनी क्षमता के विषय में अनभिज्ञ बना रहेगा। प्रतिदिन छोटे-छोटे कार्यों का निष्पादन करते हुए वह अपनी योग्यता एवं क्षमता को पहचान कर आत्मविश्वासी बनता है। दैनन्दिन के छोटे-छोटे कार्यों में प्राप्त सफलताएँ उसे बड़े कार्यों को करने का साहस, आत्मविश्वास एवं प्रेरणा प्रदान करती हैं। इस तरह वह शनै:-शनै: कर्त्तव्य-पालन में कुशलता एवं अपनी योग्यता पर पूर्ण विश्वास अर्जित कर लेता है। तब मार्ग की कठिनतम चुनौतियों का समाधान भी वह अत्यन्त कुशलतापूर्वक कर लेने में समर्थ हो जाता है।

आत्मानुशासन

अनुशासन का अर्थ है निर्धारित नियमों अथवा विधि-निषेधों का पालन करना। अनुशासन के दो आयाम होते हैं। पहला आयाम है – बाह्य अनुशासन। बाह्य अनुशासन के अन्तर्गत व्यक्ति जिस स्थान पर निवास कर रहा है, उस क्षेत्र में लागू नियमों का पालन करना है अथवा वह जिस जाति-समूह एवं समाज से सम्बन्धित है, उनके द्वारा निर्धारित विधि-निषेधों का पालन करना है। इस तरह बाह्य अनुशासन व्यक्ति पर देश एवं काल के अनुसार बाहर से आरोपित होता है। व्यक्तियों द्वारा इन विधि-निषेधों का पालन अपेक्षित होता है। इन नियमों का उल्लंघन उसके अपमान एवं दण्ड का कारण बनता है जबकि उनका तत्परतापूर्वक पालन उसे गौरव एवं पार्थिव लाभ प्रदान करता है।

किन्तु पुरस्कार एवं दण्ड के आधार पर विधि एवं निषेधों के सुचारु पालन हेतु कार्यकर यह बाह्य अनुशासन व्यक्ति को चरित्र-निर्माण में अधिक सहायता नहीं करता।

अनुशासन का दूसरा आयाम है – आभ्यन्तरिक अनुशासन। इस अनुशासन का जन्म व्यक्ति की विवेक-शक्ति से होता है। इस अनुशासन के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी उन्नत नैतिक एवं आध्यात्मिक बोध-शक्ति से अनुप्राणित हो स्वैच्छिक नियमबद्धता एवं अनुशासन की अपरिहार्यता का अनुभव करता है। वह अपने शारीरिक, ऐन्द्रिक एवं मानसिक क्रिया-कलापों के अनुशासन की आवश्यकता का अनुभव करता है। आन्तरिक अनुशासन से परिचालित व्यक्ति अपनी समस्त शक्तियों का संरक्षण कर उन्हें उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति की ओर निर्दिष्ट करता है।

आत्मानुशासन अथवा स्वानुशासन का अभ्यास अपने आरम्भिक चरणों में दु:साध्य एवं कष्टप्रद प्रतीत होता है, किन्तु अविचल, अविरत भाव से इस दिशा में प्रयासरत व्यक्ति को अन्तत: इससे अत्यन्त आनन्द एवं सुख की प्राप्ति होती है। यह आत्म-अनुशासन जो कि व्यक्ति की विवेक शक्ति का परिणाम होता है, चरित्र-निर्माण की दिशा में उसका सच्चा सहायक होता है। परिणामत: व्यक्ति सन्तुलित एवं सुगठित, व्यक्ति के निर्माण की ओर अग्रसर होता है।

जब तक व्यक्ति एक उच्च एवं गौरवशाली आध्यात्मिक लक्ष्य पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं करता, तब तक ऐसा विवेक-जनित आत्म-अनुशासन उसके जीवन में नहीं आ सकता। आत्म-अनुशासन से परिचालित व्यक्ति गहन संवेदनाओं एवं आन्तरिक भावनाओं से सम्पन्न होता है। वह अपने सन्निकट व्यक्तियों को उनकी दुविधाओं को दूर करने में सहायता प्रदान करता है। वह अपने साथियों में से कोई भी दुर्दैव एवं दरिद्रता से ग्रस्त न हो इस बात की प्राणपण से चेष्टा करता है। वह दूसरों के सुख में ही स्वयं को सुखी अनुभव करता है। दूसरों का कल्याण किस प्रकार हो यही बात उसे सदैव प्रेरित करती रहती है। उसकी यह जन-कल्याण भावना किसी भी तरह के स्वार्थ एवं प्रति उपकार की वासना से सर्वथा निष्कलंक होती है।

आत्मानुशासित एवं उच्च आदर्शोन्मुख व्यक्ति अपने साथियों का अयाचित सहायक होता है। उसका जीवन-दर्शन ही होता है – 'दूसरों के लिये जीना'। स्वाभाविक ही है ऐसा जीवन-दर्शन उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायक होता है एवं उसके सुदृढ़ चरित्र का स्वामी बनने का मूल कारण होता है। इस मार्ग पर चलकर प्रबन्धन का प्रत्येक विद्यार्थी समाज में प्रतिष्ठा, सम्मान एवं निश्चित सफलता अर्जित कर सकता है। तथापि ऐसे आत्म-अनुशासी व्यक्ति के लिये आत्म-सन्तुष्टि एवं आत्म-आनन्द की तुलना में ये पार्थिव सम्मान एवं उपलब्धियाँ गौण अथवा तुच्छ होती हैं।

समृद्धि का पाँचवाँ सोपान – पूर्णता
(श्रेष्ठता-प्राप्ति का प्रयत्न)

पूर्णता-प्राप्ति की इच्छा प्रत्येक विचारशील व्यक्ति में स्वभावत: पायी जाती है। जैसा कि हम देखते हैं कि एक उच्च कोटि का संगीतकार कभी अपनी प्रस्तुति से सन्तुष्ट

नहीं होता। वह निरन्तर अपनी अभिव्यक्ति की नवीनता, श्रेष्ठता एवं उन्नति की दिशा में प्रयत्नशील रहता है। पूर्णता-प्राप्ति की यह उत्कण्ठा ही दृश्यमान समस्त सफलताओं एवं उपलब्धियों का प्राण है। एक कुशल प्रबन्धक को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पूर्णता-प्राप्ति की अभिलाषा को संवर्धित करने का प्रयत्न करना चाहिये।

शब्दकोश में 'श्रेष्ठता' की परिभाषा इस तरह मिलती है – 'वरिष्ठता अथवा उत्कृष्टता'। श्रेष्ठता का तात्पर्य उद्यम के किसी भी क्षेत्र में उन्नति एवं विकास के लिये अनवरत, अथक प्रयत्नशील रहने से है। श्रेष्ठता हेतु प्रयत्न निरन्तर कार्यशील होता है। विश्व के इतिहास में ऐसे अनेक विख्यात् व्यक्ति हुये हैं जिन्होंने अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में विकास एवं प्रगति हेतु जीवन भर कठोर परिश्रम किया।

श्रेष्ठता का कोई भौतिक मापदण्ड नहीं है, अत: बाह्य सफलता के परिणाम से श्रेष्ठता का आकलन नहीं किया जाना चाहिये। श्रेष्ठता-प्राप्ति हेतु व्यक्ति सतत अपनी आन्तरिक क्षमताओं की शुद्धतम अभिव्यक्ति हेतु प्रेरित रहता है। श्रेष्ठता व्यक्ति की आभ्यंतरिक उत्कृष्टता को अभिव्यक्ति प्रदान करती है। तथा उसे अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व में संशोधन की प्रेरणा प्रदान करती है। श्रेष्ठता हेतु अभिलषित व्यक्ति में अनन्त समार्थ्य होती है। वह व्यक्ति अपने कार्य-क्षेत्र में अपरिमित उपलब्धियाँ अर्जित कर सकता है।

श्रेष्ठता प्राप्ति के प्रयत्न का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है – उत्पाद्य की गुणात्मकता पर दृष्टि रखना। एक कलाकार कैनवास पर चित्रकारी करते समय अपने हृदय में अनुभूत सौन्दर्य को उकेरने का प्रयत्न करता है। उसकी बाह्य अभिव्यक्ति हृदय में अनुभूत अनन्त सौन्दर्य का एक क्षुद्र अंश मात्र होती है। कलाकार का यह हृदयस्थ सौन्दर्य-बोध उसे क्रमश: अधिक उदात्त एवं श्रेष्ठ अभिव्यक्तियों हेतु सतत प्रेरणा प्रदान करता रहता है। श्रेष्ठता का यह विज्ञान जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कार्यकर है। विशिष्टता अर्जन हेतु प्रयत्नशील व्यक्ति का दृष्टिकोण उदात्त एवं गहन अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न होता है, जिसे वह अपने प्रत्येक कार्य द्वारा अभिव्यक्त करता है।

पर बाह्य जगत की तुलना में अन्तर्जगत अथवा मनोजगत में श्रेष्ठता एवं पूर्णता-प्राप्ति का प्रयत्न अनन्त गुना श्लाघनीय एवं महत्त्वपूर्ण है। इतिहास का अध्ययन करने पर समस्त महान सम्राटों एवं व्यक्तियों के जीवन में हम इस आभ्यन्तरिक श्रेष्ठता-प्राप्ति की चेष्टा को चरितार्थ हुआ देखते हैं।

हमारे देश में अनेक महान् एवं प्रतापी सम्राट हुए हैं। उदाहरणार्थ – सम्राट चन्द्रगुप्त एवं समुद्रगुप्त। तथापि सम्राट अशोक सर्वाधिक महान एवं प्रतापी सम्राट के रूप में लोक-मान्य हैं। क्यों? क्योंकि सम्राट अशोक, चन्द्रगुप्त एवं समुद्रगुप्त आदि सम्राटों की तुलना में, यद्यपि उनका भौतिक ऐश्वर्य अल्प था, तथापि नैतिकता के मापदण्ड पर वे उनसे अधिक उपलब्धिवान थे। सम्राट अशोक की नैतिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धियों ने उन्हें भौतिक ऐश्वर्य तो नहीं दिया, किन्तु इतिहास के पन्नों में उनका नाम स्वर्णाक्षरों से लिखवाकर उन्हें अमर एवं विश्ववन्द्य कर दिया।

इसी तरह भगवान बुद्ध भी पहले राजकुमार थे, किन्तु उनका स्मरण एक राजकुमार के रूप में कदाचित् ही किया जाता है। उनका स्मरण एवं पूजन ईश्वरावतार के रूप में किया जाता है। क्योंकि उन्होंने अपने अन्तर्जगत में विजय प्राप्त की थी। बाह्यत: उन्होंने कभी युद्ध नहीं किया, किसी राज्य पर विजय प्राप्त नहीं की, न ही सम्पत्ति अर्जन में मनो-निवेश किया। इस सन्दर्भ में उनके समकालीन सम्राट अधिक उपलब्धिवान थे। किन्तु हम देखते हैं कि एक ओर भगवान बुद्ध शताब्दियों से आराध्य, पूज्य एवं आदर्श हैं जबकि दूसरी ओर अन्य सम्राटों का इतिहास के पन्नों में किंचित् उल्लेख के अतिरिक्त जनमानस में कोई स्थान नहीं है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यक्ति के लिए अन्तर्प्रकृति में श्रेष्ठता एवं पूर्णता की उपलब्धि हेतु कठोर प्रयत्न क्यों महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक है। अन्तर्जगत में श्रेष्ठता-अर्जन हेतु प्रयत्नशील व्यक्ति अन्य किसी भी क्षेत्र में श्रेष्ठ अभिव्यक्ति हेतु सक्षम हो जाता है। आवश्यकता पड़ने पर ऐसा व्यक्ति बाह्य जगत में भी अनायास ही श्रेष्ठता अर्जित कर सकता है। बिना आन्तरिक वैशिष्ट्य की उपलब्धि के बाह्य जगत में सफलता-प्राप्ति हेतु आवश्यक प्रयत्न की तुलना में अपने मौलिक स्वभाव एवं वैशिष्ट्य की अनुभूति के पश्चात् बाह्य जगत में सफलता की प्राप्ति हजार गुना सुगम हो जाती है।

इस तरह यह तथ्य स्पष्ट रूप से रेखांकित हो जाता है कि प्रबन्धक को अपने आभ्यंतरिक जीवन के संशोधन, समुन्नयन हेतु उतना ही सजग एवं प्रयत्नशील होना अनिवार्य है जितना कि वह प्रबन्धकीय कौशल की विधियों को सीखने हेतु प्रयत्नशील रहता है।

अत: प्रबन्धन के विद्यार्थी को आरम्भ से ही श्रेष्ठता एवं पूर्णता-अर्जन को अपना लक्ष्य बनाना चाहिये। उसे निरन्तर अथक रूप से अपने चरित्र-निर्माण एवं व्यक्तित्व-विकास में सन्नद्ध रहना चाहिये। साथ ही उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसका व्यक्तित्व एकांगी न हो जाय। यथार्थ चरित्रवान व्यक्ति वह है जिसका व्यक्तित्व सन्तुलित एवं सुगठित है तथा जिसने अपने व्यक्तित्व का उर्ध्वमुखी एवं विस्तृत विकास किया है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है – "विस्तार ही जीवन एवं संकुचन ही मृत्यु है।" अत: प्रबन्धन के विद्यार्थी को मानवी क्रिया-कलापों की प्रत्येक विधा में ज्ञानार्जन एवं अपने कार्य-कौशल के विस्तार का प्रयत्न

(शेष पृष्ठ ३३० पर)

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। जनवरी २००४ से आरम्भ करके जून २००५ अंक तक और तदुपरान्त अप्रैल २००६ अंक से ये लगातार प्रकाशित हो रही हैं – सं.)

– ९५ –

बालक जैसा विश्वास

जटिल नाम का एक बालक था। उसे प्रतिदिन जंगल के मार्ग से होकर पाठशाला जाना पड़ता था। वन से होकर जाते समय उसे बड़ा भय लगता था। उसने अपनी माँ से यह बात कही। माता बोली – "इसमें डरने की क्या बात है? तू अपने मधुसूदन को पुकारना।" बच्चे ने पूछा – "मधुसूदन कौन है?" माँ बोली – "मधुसूदन तेरे बड़े भैया हैं।" अगली बार जब अकेले वन से होकर गुजरते समय उसे भय लगा, तब उसने आवाज लगायी – "मधुसूदन भैया!" परन्तु कहीं कोई न आया। तब वह बारम्बार – "कहाँ हो मधुसूदन भैया! जल्दी आओ, मुझे बड़ा डर लग रहा है" – कहकर जोर-जोर से पुकारते हुए रोने लगा। मधुसूदन स्थिर न रह सके। आकर कहा – "हम ये रहे, तुझे भय क्या है?" – यह कहकर वे उसे साथ लेकर पाठशाला के रास्ते तक छोड़ आए और कहा – "तू जब बुलाएगा, तभी मैं दौड़ा आऊँगा, भय क्या है?"

यही बालक का विश्वास, यही व्याकुलता होनी चाहिये!

– ९६ –

प्रारम्भिक विश्वास

कर्म करने के पहले उस पर विश्वास चाहिए और साथ ही उस वस्तु की याद करने पर जब आनन्द होता है, तभी आदमी की कर्म करने में प्रवृत्ति होती है।

मिट्टी के नीचे एक घड़े में अशर्फियाँ भरी पड़ी हैं, पहले यह ज्ञान – यह विश्वास होना चाहिए। घड़े के बारे में सोचने से ही आनन्द होता है। उसके बाद खुदाई शुरू होती है। खोदते हुए जब कुदाल घड़े से टकराता है और उससे ठनकार की आवाज होती है, तब आनन्द और भी बढ़ जाता है। फिर जब घड़े का किनारा दीख पड़ता है, तब आनन्द भी और बढ़ता है। इसी तरह आनन्द बढ़ता जाता है।

मैंने स्वयं ठाकुरबाड़ी के बरामदे में खड़े होकर देखा है – साधुओं ने गाँजा मलकर तैयार किया कि चिलम पर चढ़ाते-चढ़ाते उनका आनन्द उमड़ने लगा।

– ९७ –

सच्चे भक्त का विश्वास

एक बार मैं गाँव (कामारपुकुर) जा रहा था, रास्ते में सहसा एक साथ आँधी-पानी आ गयी। मैदान में डाकुओं का भी भय था। तब मैंने सब कुछ कह डाला – राम, कृष्ण, भगवती, फिर मैंने हनुमानजी की याद की!

मैंने सबका नाम लिया, जानते हो इसका क्या अर्थ है? बात यह है कि जब नौकर या नौकरानी बाजार करने को पैसे लेती है, तब हर चीज के पैसे अलग-अलग लेती है, कहती है – ये आलू के पैसे हुए, ये बैंगन के, आदि आदि। इस प्रकार सबके पैसे अलग-अलग लेती है। सब हिसाब करके फिर सारे पैसे एक साथ मिला देती है।

विश्वास से क्या नहीं होता? जो सच्चे मार्ग पर है, वह सब पर विश्वास करता है – साकार, निराकार, राम, कृष्ण, भगवती – सब पर।

– ९८ –

पूर्ण निर्भरता

एक कम उम्र का संन्यासी किसी गृहस्थ के यहाँ भिक्षा माँगने गया। वह जन्म से ही त्यागी था। संसार की बातें जरा भी नहीं जानता था। गृहस्थ की एक युवती लड़की ने आकर भिक्षा दी। संन्यासी ने कहा – "माँ, इसकी छाती पर कितने बड़े-बड़े फोड़े हुए हैं?" लड़की की माँ ने कहा, "नहीं महाराज, ये फोड़े नहीं हैं। इसके पेट से बच्चा होगा, बच्चे को दूध पिलाने के लिए ईश्वर ने इसे स्तन दिये हैं – बच्चा उन्हीं स्तनों का दूध पीयेगा।" तब संन्यासी ने कहा, "फिर सोच किस बात की है? अब मैं भिक्षा क्यों माँगूँ? जिन्होंने मेरी सृष्टि की है, वे ही मुझे खाने को भी देंगे।"

– ९९ –

असीम विश्वास

एक दिन श्रीकृष्ण अर्जुन के साथ रथ पर बैठकर कहीं जा रहे थे। जाते-जाते आकाश की ओर देखकर बोल उठे – "देखो मित्र, कितने सुन्दर झुण्ड-के-झुण्ड कबूतर उड़ रहे हैं!" अर्जुन ने तत्काल उस ओर देखकर कहा – "सचमुच

सखा, बहुत ही सुन्दर कबुतर हैं !'' पर दूसरे ही क्षण श्रीकृष्ण ने फिर से देखकर कहा – ''नहीं सखा, ये कबूतर नहीं लगते।'' अर्जुन ने भी देखकर कहा – ''ठीक तो है सखा, ये कबूतर नहीं हैं।''

अब इसका अर्थ समझने का प्रयास करो। अर्जुन महान् सत्यनिष्ठ थे, उन्होंने कृष्ण की खुशामद करने के लिए ऐसा नहीं कहा। श्रीकृष्ण की बातों पर उसका इतना विश्वास था, इतनी श्रद्धा-भक्ति थी कि श्रीकृष्ण ने जैसा कहा, उन्हें वास्तव में वैसा ही दिखाई दिया था।

– १०० –
अटल विश्वास

यही मेरे इष्टदेव हैं – ऐसा जब सोलहों आना विश्वास हो जायेगा, तब ईश्वर मिलेंगे, तब उनके दर्शन होंगे।

पहले के आदमियों में विश्वास बहुत होता था। हलधारी[१] के बाप को बड़ा पक्का विश्वास था ! एक बार वह अपनी लड़की की ससुराल जा रहा था। रास्ते में बेल खूब फूल रहे थे और पेड़ पर अच्छे-अच्छे बिल्वपत्र भी उसे दीख पड़े। वह ठाकुरजी की सेवा करने के लिए फूल और बेलपत्र लेकर उल्टे पाँव तीन कोस जमीन चलकर अपने घर लौट आया !

रामलीला हो रही थी। कैकेयी ने राम को वनवास की आज्ञा दी। हलधारी का बाप भी रामलीला देखने गया था। वह बिलकुल उठकर खड़ा हो गया। जो कैकेयी बना था उसके पास पहुँचकर कहा – 'अभागिन् !' यह कहकर उसने उसके मुँह में दीया लगा देना चाहा था !

नहाने के बाद जब वह पानी में खड़ा होकर 'रक्तवर्णं चतुर्मुखम्' कहकर ध्यान करता था, तब उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह निकलती थी।

– १०१ –
विश्वास की शक्ति

विश्वास हुआ कि सफलता मिली। विश्वास से बढ़कर और कुछ नहीं है। विश्वास में कितना बल है, यह तो तुमने सुना है न? पुराणों में लिखा है कि श्रीरामचन्द्र, जो साक्षात् पूर्णब्रह्म नारायण हैं, उन्हें भी लंका जाने के लिए सेतु बाँधना पड़ा था, परन्तु हनुमान राम-नाम के विश्वास से ही कूदकर समुद्र-पार चले गए, उन्हें सेतु की जरूरत नहीं पड़ी।

– १०२ –
हनुमान सिंह और पंजाबी पहलवान

आदमी की शक्ति से लोक-शिक्षा नहीं होती। ईश्वर की शक्ति के बिना अविद्या नहीं जीती जा सकती।

दो आदमी कुश्ती लड़े – हनुमान सिंह और एक पंजाबी मुसलमान। मुसलमान खूब तगड़ा था। कुश्ती के दिन तथा उसके पन्द्रह दिन पहले से ही उसने खूब मांस और घी खाया था। सब सोचते थे कि यही जीतेगा।

दूसरी ओर हनुमान सिंह मैले कपड़े पहने रहता था। कुश्ती के कुछ दिन पहले से वह बहुत कम खाया करता था, परन्तु हनुमानजी का नाम खूब लेता था। जिस दिन कुश्ती होने की थी, उस दिन तो उसने निर्जला उपवास किया था। लोग सोचने लगे, यह जरूर हारेगा।

परन्तु जीता वही, और पन्द्रह दिन तक जिसने खूब खाया था, वह हार गया।

– १०३ –
विश्वास को चमत्कार नहीं चाहिये

किसी स्थान पर दो योगी थे। वे ईश्वर की प्राप्ति के लिये साधना किया करते थे। एक बार नारद ऋषि उधर से ही होकर जा रहे थे। उनका परिचय पाकर एक ने कहा – ''क्या आप स्वर्ग से आ रहे हैं?'' नारद बोले – ''हाँ।'' योगी ने पूछा – ''अच्छा, तो बताइए कि भगवान इस समय क्या कर रहे हैं?'' नारदजी बोले – ''आते समय मैंने देखा कि वे एक सुई के छेद में से ऊँट और हाथियों को पार करा रहे हैं।'' यह सुनकर एक योगी ने कहा – ''इसमें आश्चर्य ही क्या है? भगवान के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।'' परन्तु दूसरे ने कहा – ''भला ऐसा भी कहीं हो सकता है? तुम वहाँ गए ही नहीं।''

पहला योगी भक्त था। उसमें शिशु की भाँति सरल विश्वास था। वह जानता था कि भगवान के लिए कुछ भी असम्भव नहीं, भगवान का स्वरूप कोई नहीं जानता।

– १०४ –
भगवन्नाम की शक्ति

किसी राजा के हाथ से ब्रह्महत्या हो गई थी। इस पाप के प्रायश्चित्त का विधान पूछने के लिए वह एक ऋषि की कुटिया में गया। ऋषि उस समय स्नान करने गए हुए थे। उनका पुत्र कुटिया में था, उसने राजा की बात सुनकर कहा – ''तुम तीन बार रामनाम ले लो '' कुटिया में लौटकर ऋषि ने जब यह बात सुनी, तो क्रुद्ध होकर बोले, ''जिस राम-नाम का एक बार उच्चारण करने से कोटि जन्मों के पाप कट जाते हैं, तूने राजा से उसे तीन बार उच्चारण करने को क्यों कहा ! जा, तू चण्डाल बन जा।'' वह ऋषिपुत्र बाद में रामायण का गुहक चण्डाल बना।

❖ (क्रमशः) ❖

१. श्रीरामकृष्ण के भतीजे और दक्षिणेश्वर-मन्दिर में एक पुजारी

नारदीय भक्ति-सूत्र (१)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों की जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के लगभग ७५ जापानी भक्तों के कल्याणार्थ अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप लिपिबद्ध और सम्पादित करके एक सुन्दर ग्रन्थ का रूप दिया गया है। अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर किया है रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर, कोलकाता के स्वामी सर्वभूतानन्द तथा आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत श्री रामकुमार गौड़ ने। – सं.)

भूमिका

भगवान से प्रेम कैसे करे? – यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसका उत्तर सरल और कठिन दोनों है। सरल इसलिये क्योंकि हम प्राय: सुनते हैं कि यदि हम ईश्वर से प्रार्थना करें, उनकी पूजा-आराधना करें और पवित्र तथा अच्छा जीवन बिताने की चेष्टा करें, तो हमें ईश्वर से प्रेम हो सकता है। बात बड़ी सामान्य और सरल लगती है, पर इसे कहना ही सहज है, करना नहीं। कठिनाई तब आती है, जब हम इन विचारों को कार्य रूप में परिणत करने का प्रयास करते हैं।

ईश्वर-प्रेम क्या है?

सर्वप्रथम तो हमारे लिये ईश्वर-प्रेम अर्थ ही समझ पाना कठिन है। हमारे मन में जागतिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों के प्रति अपने सम्बन्ध के बारे में कुछ धारणा होती है। हम अपने माता-पिता, सन्तानों तथा सगे-सम्बन्धियों से प्रेम करते हैं। पति पत्नी को और पत्नी पति से प्रेम करती है। फिर धन-सम्पत्ति, प्रसिद्धि, अधिकार और ऐसी ही अन्य वस्तुओं के प्रति प्रेम होता है। परन्तु ईश्वर-प्रेम का क्या अर्थ है – यह समझ पाना कठिन है, परन्तु हम यह नहीं जानते कि हमें ईश्वर के साथ क्या सम्बन्ध रखना चाहिये, क्योंकि हमें ईश्वर के साथ उस प्रकार के सम्बन्ध का कोई अनुभव नहीं है जैसा अन्य लोगों के साथ सम्बन्ध का है। हमारे प्रेम की हर वस्तु मूर्त होती है और हमारी इन्द्रियों द्वारा अनुभव की जा सकती है। किन्तु ईश्वर ऐसे नहीं हैं। दूसरा कारण यह है कि हमें आरम्भ में ही ईश्वर की अनुभूति नहीं होती। जब हम ईश्वर-प्रेम के बारे में सोचते हैं, तो यह वास्तविकता की अपेक्षा कल्पना ही अधिक होता है। हमें अनुभव होता है कि अनुभूति के आधार के बिना कल्पना नहीं हो सकती, इसीलिये ईश्वर-प्रेम की धारणा करने में हमें कठिनाई होती है।

ईश्वर से प्रेम कैसे हो?

वस्तुत: यह कठिन तो है, पर इसका अनुभूति-प्राप्त लोग हमें वह मार्ग दिखाते हैं, जिससे हम लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। उदाहरणार्थ श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "उनकी उपासना करने के लिए एक भाव का आश्रय लिया जाता है।"[१] व्यक्ति को ईश्वर के प्रति पिता, माता, पुत्र या अन्य कोई भाव रखना चाहिये। इस प्रकार का आरोपण कुछ सहायता कर सकता है। इन सभी जागतिक सम्बन्धों के प्रेम का अनुभव है और इसी को ईश्वर पर आरोपित करना है। शास्त्रों में कहा गया है – "तुम्हीं मेरे माता हो, तुम्हीं पिता हो, तुम्हीं भाई और सखा हो; तुम्हीं मेरी विद्या तथा सम्पदा हो और तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो।"[२] मनुष्य ईश्वर के बारे में इस तरह की धारणा रख सकता है, अर्थात् वह सोचे कि इस संसार में एकमात्र ईश्वर ही हमारे सर्वस्व हैं।

प्रारम्भ में यह एक प्रकार की तैयारी – एक प्रकार की कल्पना मात्र होती है। बाद में, भावना के क्रमश: गहराने पर यह कल्पना ही अनुभूति में परिणत हो जाती है। आज जो कल्पना है, वह कल अनुभूति हो जायेगी। इसी प्रकार ईश्वर-प्रेम का विकास किया जा सकता है। इस ईश्वर-प्रेम को भक्ति कहते हैं और भक्ति के द्वारा ईश्वर-प्राप्ति के पथ को भक्तियोग कहते हैं। नारदीय भक्ति-सूत्रों में हम पाते हैं कि वहाँ ईश्वर को पूर्ण रूप से पारिभाषित नहीं किया गया है। कहा गया है – "किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है।"

ईश्वर-प्रेम के विकास हेतु साधना

भक्ति-मार्ग आसान नहीं है क्योंकि कोई भी महान वस्तु

१. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग २, सं. १९९९ पृ. ८०३

२. त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

आसानी से नहीं प्राप्त की जा सकती है। क्या उन ईश्वर को प्राप्त करना इतना आसान है, जो हमारे जीवन की सर्वाधिक मूल्यवान उपलब्धि है? इसके लिये अभ्यास जरूरी है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "सर्वदा ईश्वर का नाम-गुणगान करना चाहिए, सत्संग करना चाहिए।"[३] ये भक्ति-मार्ग के प्राथमिक सोपान हैं। पूजा-अनुष्ठान, प्रार्थना आदि को वैधीभक्ति या शास्त्रोक्त भक्तिमार्ग कहते हैं। प्रारम्भिक भक्ति द्वारा ईश्वर-प्रेम को विकसित करने की तुलना गुड़ियों से खेलनेवाले बच्चों से की जा सकती है। जब बालिकायें अपनी गुड्डे-गुड़ियों से खेलती हैं, तो कुछ को वे अपनी पुत्र-पुत्रियाँ बना लेती हैं और इस प्रकार उनके साथ एक सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। वे उन गुड्डे-गुड़ियों को खिलाती हैं, कपड़े पहनाती हैं, सुलाती हैं और उनके टूट जाने पर रोती भी हैं।

हमें प्रारम्भिक भक्ति को तब तक जारी रखना होगा, जब तक ईश्वर के जीवन्त अस्तित्व का बोध न होने लगे। यदि हम ईश्वर के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित करके, प्रार्थना और पूजा आदि करने का प्रयास करें, तो भी मार्ग में आन्तरिक और बाह्य – दोनों ही प्रकार की कई बाधाएँ आती हैं। काम-लोभ आदि आन्तरिक बाधाएँ हैं और उपयुक्त स्थान, सहायता, सहयोग आदि का अभाव बाह्य बाधाएँ हैं।

पथ की बाधाएँ और उनका निराकरण

श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि जब भक्त के मन में प्रेम का उदय होता है, तो सभी समस्याएँ दूर हो जाती हैं, ईश्वर-प्रेम रूपी बाघ काम, कोध, ईर्ष्या आदि को खा जाता है। दूसरे शब्दों में, तीव्र प्रेम ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग की सारी बाधाओं को दूर कर देता है। हम कहते हैं कि इस संसार में बहुत बाधाएँ हैं। पर ये बाधाएँ संसार में नहीं, अपितु मन में हैं। जब मन में ईश्वर-प्रेम जाग्रत होता है, तो सारी बाधाएँ चली जाती हैं।

ईश्वर के प्रति इस तीव्र प्रेम को हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं? प्रेम और निष्ठा सहित नियमित रूप से ईश्वर की सेवा करके इसे प्राप्त किया जा सकता है। पवित्र जीवन व्यतीत करनेवाले लोगों के मन पर क्रमशः ईश्वर-प्रेम का रंग चढ़ने लगता है और तब कोई भी सांसारिक बाधा उनकी उन्नति को नहीं रोक सकती, जैसे – घरेलू कर्तव्य गोपियों को श्रीकृष्ण से मिलने जाने में बाधा नहीं डाल सके। भागवत में यह उदाहरण मिलता है कि अपने गृह-कार्यों में व्यस्त गोपियों ने वन से आती हुई श्रीकृष्ण की बंशी-ध्वनि को सुना। ईश्वर की वह पुकार अप्रतिरोध्य थी। गोपियाँ तत्काल अपना कार्य भूल गयीं और श्रीकृष्ण की ओर दौड़ पड़ी। उस सम्मोहक पुकार ने उनके मन को गृह-कार्यों से ऊपर उठा दिया। भागवत में वर्णित है कि एक बार एक गोपी अपने कमरे में कैद थी। सोचने-विचारने पर उसे अनुभव हुआ कि श्रीकृष्ण के दर्शन हेतु जाने में उसका शरीर ही बाधा थी। अतः उसने अपना शरीर त्याग दिया और सूक्ष्म शरीर में भगवान के साथ एकाकार हो गई। उसका शरीर भी उस मिलन को नहीं रोक सका। इसी को सच्चा प्रेम कहते हैं।

सच्चा ईश्वर-प्रेम भक्त के जीवन से समस्त बाधाओं को दूर कर देता है। 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के लेखक 'म' ने एक दिन, श्रीरामकृष्ण से पूछा कि यदि पत्नी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक बनती है, तो व्यक्ति को क्या करना चाहिये! श्रीरामकृष्ण ने 'म' को बताया कि प्रारम्भ में ऐसी पत्नी को समझाना चाहिये। 'म' ने पूछा कि यदि वह आत्महत्या जैसा पाप करने की धमकी दे, तो क्या करना चाहिये? श्रीरामकृष्ण बोले – "ऐसी स्त्री को त्यागना चाहिए, जो ईश्वर की राह में विघ्न डालती हो।" उन्होंने आगे कहा – "परन्तु जिसकी ईश्वर पर सच्ची भक्ति है, उसके वश में सभी आ जाते हैं – राजा, बुरे आदमी, स्त्री – सब।"[४]

श्रीरामकृष्ण के सुझाव

श्रीरामकृष्ण ने कुछ ऐसे सुझाव दिये हैं, जिससे भक्तगण अध्यात्म-पथ की बाधाओं से मुक्त हो सकते हैं। एक सुझाव हैं – प्रार्थना। यदि कोई सच्ची निष्ठा के साथ भगवान से प्रार्थना करे, तो वे सारी बाधाएँ दूर करके हर चीज को अनुकूल बना देते हैं। श्रीरामकृष्ण का दूसरा सुझाव है – साधुसंग। साधु उसे कहते हैं, जो दूसरों के मन को उच्चतर आध्यात्मिक-राज्य में उन्नीत कर सके। साधुजन पवित्रता के जीते-जागते उदाहरण हैं। उनका जीवन ही ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करता है, अन्यथा लोगों को आध्यात्मिक जीवन में विश्वास नहीं हो सकता। उनका तीसरा सुझाव है – कभी-कभी निर्जन स्थान में जाकर निवास करना। श्रीरामकृष्ण ने एक उदाहरण दिया है – मछुआरे के जाल में फँसकर कुछ मछलियाँ तो कीचड़ में छिप जाती हैं और सोचती हैं कि वे सुरक्षित हैं। वे यह नहीं समझ पातीं कि मछुआरा धीरे-धीरे जाल खींचकर उन्हें पकड़ लेगा और उन्हें अपनी जान से हाथ धोना पड़ेगा। जिस प्रकार मछलियाँ जाल में फँसी हैं, उसी प्रकार हमारी आत्मा संसार में बद्ध है। अतः हमें एकान्त में जाकर मानव-जीवन के उद्देश्य के बारे में सोचना चाहिये। यदि हमें अनुभव होने लगे कि संसार सत्य नहीं है और दुखमय है, तो हम इसके प्रति आकर्षित ही नहीं होंगे। साधना संसार के प्रति हमारे आकर्षण को समाप्त कर देती है और हमारे भीतर ईश्वर के लिये व्याकुलता उत्पन्न करती है। एकमात्र व्याकुलता ही आवश्यक है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "व्याकुलता हुई कि मानो आसमान पर सुबह की ललाई

३. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग १, सं. १९९९ पृ. ७

४. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग १, पृ. ७०

छा गयी। शीघ्र ही सूर्य भगवान निकलते हैं, व्याकुलता के बाद ही भगवद्दर्शन होते हैं।''[५]

भक्ति-मार्ग सबके लिये है

अन्त में, यह स्मरणीय है कि भक्ति-मार्ग सबके लिये है। हर व्यक्ति इसका अभ्यास कर सकता है। बुरे-से-बुरा व्यक्ति भी इस पथ पर चलना शुरू कर सकता है और क्रमश: उसमें सुधार होगा। इस भक्ति-प्रेम का स्वरूप ऐसा है कि यह न केवल प्रेमी को पवित्र करता है, अपितु प्रेमास्पद के बारे में उसकी धारणा में भी परिवर्तन लाता है। वह पवित्रीकरण या रूपान्तरण क्रमश: निम्नतम सीढ़ी से उच्चतम सीढ़ी तक चलता रहता है। यही भक्ति-मार्ग का सौन्दर्य है।

नारद-भक्ति-सूत्र

नारद-भक्ति-सूत्र भक्ति-विषयक एक सरल मौलिक पुस्तक है। इसमें कुल ८४ सूत्र हैं। पुस्तक के रचना-काल और रचयिता के बारे में स्पष्ट जानकारी नहीं है, यद्यपि यह माना जाता है कि इस पुस्तक को नारद मुनि ने लिखा है। नारद मुनि अपनी भक्ति के लिये प्रसिद्ध हैं। महाभारत के शान्ति-पर्व में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण नारद के गुणों का बखान करते हैं। वे बारम्बार कहते हैं कि नारद सर्वत्र और सर्वजन-पूजित हैं। यद्यपि नारद के जीवन के बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती, तथापि भागवत (१.५ और १.६) में उनके बचपन का संक्षिप्त विवरण मिलता है। नारद के पिता के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती, परन्तु कहते हैं कि उनकी माँ एक ब्राह्मण के घर में दासी थीं। एक बार उन ब्राह्मण के घर अतिथि के रूप में अनेक साधु-सन्त एकत्र हुए थे और नारद उनकी सेवा-सत्कार कर रहे थे। नारद ने उन साधुओं की सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखा और उनके उपदेश भी सुने। अतिथि-साधु भी नारद से बड़े प्रसन्न हुए, क्योंकि मात्र पाँच वर्ष के इस बालक ने बड़े भक्ति-भाव से उनकी सेवा की थी। अत: उन सन्तों ने नारद को भक्ति-मार्ग की शिक्षा दी।

इसी बीच सर्प-दंश से नारद की माँ की मृत्यु हो गई। एक दिन वे भोर के अँधेरे में ब्राह्मण की गायों को दूहने जा रही थीं। रास्ते में एक साँप ने उन्हें डँस लिया और उनकी मृत्यु हो गई। नारद की माँ ही उन्हें जगत् से जोड़नेवाली एकमात्र कड़ी थीं। माँ की मृत्यु के बाद उन्होंने स्वयं को अपने जागतिक दायित्वों से मुक्त अनुभव किया उस ब्राह्मण का घर छोड़ दिया। इसके बाद नारद एक वन में चले गये और वहाँ ईश्वर-दर्शन हेतु व्याकुलतापूर्वक प्रार्थना करने लगे। भगवान उनके समक्ष प्रकट हुये और इससे नारद परम आनन्दित हुए। परन्तु उनके शीघ्र ही अन्तर्धान हो जाने पर नारद उनकी उपस्थिति से वंचित होकर बड़े दुखी हुए। जब वे ईश्वर का पुन: दर्शन पाने हेतु व्याकुल होकर रुदन कर रहे थे, तभी उन्होंने भगवान की यह वाणी सुनी – ''अब अपने इस जीवन में तुम मुझे फिर नहीं देख सकोगे। तुमने मेरा दर्शन प्राप्त कर लिया है, अत: तुम्हारा जीवन आनन्दपूर्ण रहेगा। ईश्वर का नाम गुणगान करते हुए भ्रमण करो।'' इसके बाद नारद ईश्वर का नाम-गुणगान करते हुए और लोगों को भक्ति या प्रेम-मार्ग की शिक्षा देते हुए संसार में भ्रमण करने लगे। नारद-भक्ति-सूत्रों की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई।

सूत्र क्या है? सूत्र एक संक्षिप्त या गूढ़ कथन है, जिसमें एक बृहत् विचार अल्प शब्दों में समाहित होता है। पद्म-पुराण[६] के एक श्लोक में कहा गया है – सूत्र वह है, जिसमें किसी बृहत् विचार की सार-रूप में, असन्दिग्ध तथा अल्प शब्दों में, पुनरुक्ति-दोष-रहित अभिव्यक्ति होती है। ऐसे सूत्र को बदला नहीं जा सकता और न उसमें कोई त्रुटि ही होती है। सूत्र का अर्थ धागा भी है – वह धागा या सूत्र जो पूरी पुस्तक को बाँधकर एकत्र रखता है। परम महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक विचार सूत्र-रूप में लिखे गये थे, ताकि उन्हें आसानी से कण्ठस्थ किया जा सके और भावी पीढ़ियों के लाभार्थ सुरक्षित रखा जा सके। नारद-भक्ति-सूत्र के मात्र ८४ सूत्रों में भक्ति-मार्ग की समग्र पद्धति की व्याख्या की गई है।

प्रस्तुत पुस्तक में हम नारद प्रतिपादित भक्ति-मार्ग का अध्ययन करेंगे। जापान के वेदान्त केन्द्र की यात्रा के दौरान, भक्तों के अनुरोध पर मैंने वहाँ नारद-भक्ति-सूत्र पर व्याख्यान दिये थे। उन व्याख्यानों का टेप से अनुलिखन करके हमारे लन्दन केन्द्र से निकलने वाली रामकृष्ण संघ की त्रैमासिक पत्रिका 'वेदान्त' में धारावाहिक रूप से प्रकाशन हुआ था। मूल सूत्रों तथा उनके अर्थ के अनुवाद के साथ यह पूर्णत: परिवर्द्धित संस्करण अब पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

५. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग १, पृ. ९

६. अल्पाक्षरं असंदिग्ध सारवत् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदु: ॥
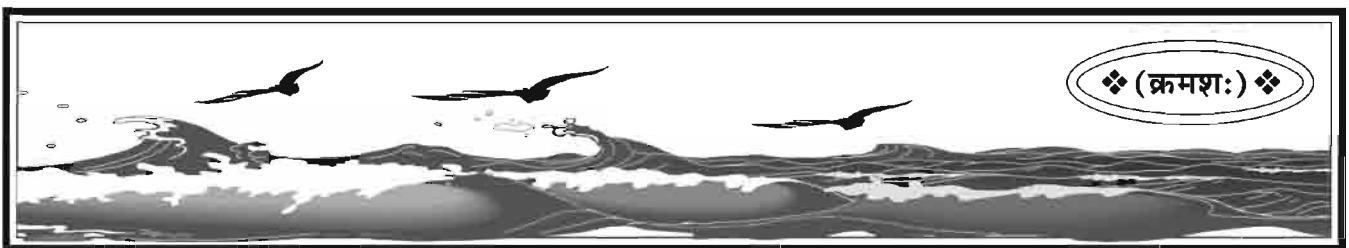
आत्माराम की आत्मकथा (२८)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसके अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

मर्दानपुर में नर्मदा-तट पर (क्रमशः)

फिर कुछ दिन भलीभाँति बीतने लगे। इसी बीच परिक्रमा करनेवालों की एक टोली आ पहुँची, जिसमें एक गुजराती ब्राह्मण दम्पति तथा उसका एक भाई था। उन लोगों ने उसी मन्दिर में अड्डा जमाया। इस कारण अब पहले जैसी निर्जनता और शान्ति नहीं रह गयी। इसके बाद वे लोग ही मेरा भोजन आदि तैयार करने लगे, वैसे इसमें उनका और मेरा भी लाभ ही था, क्योंकि जो ब्राह्मण भोजन लाता था, वह बहुत देरी करने लगा था और प्रतिदिन खाना भी ठीक नहीं पकाता था। उन लोगों ने बाँस-खर आदि लाकर छप्पर डाला और आखिरकार वहीं जम गये।

इसी बीच एक दिन उन्हीं बैंक-बाबू का निमंत्रण पाकर उनके यहाँ भोजन करने गया था। देखा कि वे एक मियाँ के साथ दोस्ती करने में व्यस्त हैं। मुझे जल्दी से खिलाया और कुछ रुपये लेकर उसके साथ किसी गाँव की ओर रवाना हुए। उनके चले जाने पर उनके सहकारी ने बताया कि वे इसी प्रकार प्राय: ही उसके साथ जा रहे हैं और बैंक से रुपये ले-लेकर उड़ा रहे हैं; और इधर भय से उसका प्राण काँप रहा है कि यदि कोई जाँच-पड़ताल के लिये आये, तो मेरी नौकरी भी जायेगी, उनकी तो जायेगी ही और साथ ही जेल तक हो सकता है। कोई उपाय करना चाहिये, जिससे इससे विरत होकर अपने कार्य में मनोनियोग करें। वैसे यह सब उसने मुझे गोपनीय रूप से बताया था।

मैं तो यह सब सुनकर बड़ा दुखी हुआ और उन्हें थोड़ा सावधान करने का उपाय सोचने लगा। सर्वप्रथम तो मैंने मास्टरजी को सारी बातें सूचित करते हुए पत्र लिखा कि वे वहाँ आकर उनकी व्यवस्था थोड़ी ठीक कर जायँ। उन्होंने ही इन्हें नौकरी दिलवाई थी और इनके निकट सम्बन्धी भी थे। दो दिन बाद बैंक-बाबू आ पहुँचे – फटे वस्त्रों में, निस्तेज चेहरा। यह मलिन कर्म का फल था। मुझे देखकर लज्जित थे, आँखें उठाकर देख नहीं पा रहे थे। मैंने उन्हें खूब खरी-खोटी सुनाई। सब कुछ चुपचाप सुनने के बाद बोले – "अब नहीं जाऊँगा, विश्वास कीजिये, क्षमा कीजिये।"

उसी दिन पत्रवाहक मास्टरजी के पास से पत्र ले आया। मुझे लिखा था कि अविलम्ब उसे साथ लेकर भोपाल चला आऊँ। उसी रात गाड़ी लेकर बैंक-बाबू, उनका सहकारी और मैं – हम तीनों रवाना हुए। मास्टरजी ने लिखा था कि मैं मुख्य अधिकारी को कहकर इन दोनों की छुट्टी मंजूर करा लूँ। अगले दिन उसी पूर्व के स्टेशन से ट्रेन पकड़कर हम लोग भोपाल पहुँच गये। मिलने पर सारी बातें हुईं। अब समस्या यह थी कि उन्हें किस प्रकार बचाया जा सकता है? पकड़े जाने पर जेल होना अनिवार्य था। वे मास्टरजी के निकट सम्बन्धी थे, वे ही उनके लिये जमानतदार भी हुए थे। मैंने कहा – भाई, यदि बचना हो, तो इन्होंने जो रुपये निकाले हैं, उसकी भरपाई करके इन्हें अन्यत्र खिसका दीजिये। आखिरकार वही निर्णय हुआ और जब तक वैसी व्यवस्था नहीं हो जाती, तब तक उन पर निगाह रखने का अनुरोध करके हमें वापस भेजा।

स्टेशन पर आकर गाड़ी में बैठा था कि कुछ लोग आकर बैंक बाबू को बुलाकर न जाने क्या-क्या बातें करने लगे, उसके बाद उन्हें ले जाने के लिये खींचा-तानी करने लगे। वे भी जाने के इच्छुक नहीं थे और वे लोग भी छोड़नेवाले न थे। क्या बात है – जानने के लिये मैंने सहकारी बाबू को वहाँ भेजा। उसने लौटकर सूचना दी कि बिना-अनुमति बैंक बन्द करके चले आने के कारण बैंक का अधिकारी उन्हें पकड़कर ले जा रहा है। समझ गया कि मास्टरजी की लापरवाही से ही ऐसा हुआ है। अब क्या उपाय हो? देखा कि उसे लेकर वे लोग फिर मेरी ओर चले आ रहे हैं। सहकारी ने सोचा कि वे लोग उसे भी पकड़ने के लिये आ रहे हैं। वह तो गाड़ी का पिछला दरवाजा खोलकर चम्पत हो गया। परन्तु वे लोग मुझसे पूछने आ रहे थे कि क्या सचमुच ही मास्टरजी ने पत्र लिखकर बुलाया था और उसमें यह लिखा था कि वे बड़े अधिकारी से छुट्टी लेकर ही आयें। मैं बोला – हाँ, यही बात लिखी थी। इस पर वे लोग उन्हें छोड़कर चले गये।

उन लोगों के चले जाने पर वह सहकारी बाबू भी न जाने कहाँ से आ पहुँचा। तब मैंने चैन की साँस ली। रास्ते में और कुछ नहीं हुआ। हम सही-सलामत मर्दानपुर पहुँचे। परन्तु – अब मेरा मन वहाँ रहना नहीं चाहता था। तपस्या तो न जाने कब से बन्द हो गयी थी, इधर यह झंझट और

उधर उन गुजराती ब्राह्मणों के आचरण पर सन्देह होते रहने के कारण अशान्ति भी हो रही थी। मैंने निश्चय किया कि इस बाबू की कुछ व्यवस्था होते ही यह स्थान छोड़ दूँगा और ओंकारनाथ में जाकर रहूँगा।

रेलवे स्टेशन में हुई घटना का विवरण देते हुए मैंने मास्टरजी को पत्र लिखा और शीघ्र वहाँ से चले जाने के अपने विचार से भी उन्हें अवगत कराया। तीन-चार दिन बीतते-न-बीतते एक दिन बैंक-बाबू फिर गायब हो गये। जाने के दो दिन बाद भी जब नहीं लौटे, तो मुझे भय हुआ – कहीं बहुत कुछ लेकर खिसक तो नहीं गये ! सहकारी बाबू अच्छा आदमी था, उन्हीं की कृपा से यह नौकरी मिलने के कारण दफ्तर में उसके विरुद्ध कभी कुछ लिखता नहीं था और सर्वदा उसे बचाने की चेष्टा करता। परन्तु इस बार वह अधीर हो गया और किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर मुझसे पूछने लगा कि ऐसी परिस्थिति में उसके लिये क्या करना उचित होगा ! क्योंकि यदि हेड-आफिस को पता चला, तो वह भी पूरी तौर से बरबाद हो जायेगा। मैंने उसे एक दिन और धैर्य रखने को कहा और वह मियाँ के साथ जिस गाँव में जाया करता था, वहाँ पत्र देकर एक विश्वस्त आदमी भेजा कि वे तत्काल चले आएँ। उधर मास्टरजी को भी सारा समाचार देते हुए पत्र लिखा कि इसे पाते ही 'व्यवस्था' करें अन्यथा सर्वनाश हो जायेगा। रात में बाबू को साथ लेकर वह आदमी आया। मैंने उससे कोई बात ही नहीं की।

अगले दिन अपराह्न में मास्टरजी और दो बैंक-अफसर आये। इस मामले में उपस्थित न रहना ही उचित समझकर, मैं उसी भग्न मन्दिर में चला गया। हिसाब-किताब समझने और उसके हाथों त्यागपत्र लिखवाने के बाद बैंक-अधिकारी चले गये। उसके बाद मास्टरजी और बाबू मुझसे मिलने आये। मास्टरजी कहने लगे – "स्वामीजी, आपका उपकार जीवन में कभी भूल नहीं सकूँगा। आपके कारण ही किसी प्रकार अपने मान की रक्षा कर सका हूँ। आपके न सूचित करने पर, मेरी न जाने कैसी दुर्गति होती !" और बाबू कहने लगा – "क्षमा कीजिये, क्षमा कीजिये !"

इसके बाद मास्टरजी को अपने प्रति नि:स्वार्थ प्रेम के लिये उन्हें धन्यवाद देकर मैंने उनसे विदा माँगी। सोचा था कि पैदल ही ओंकारनाथ जाऊँगा, परन्तु उन्होंने एक न सुनी। ट्रेन का किराया देकर विदा किया।

"मेरे चाहने से क्या होगा ! जिनका अनुग्रह हुए बिना साधन-भजन करने की सुयोग-सुविधा नहीं मिलती, सामर्थ्य भी नहीं होती, उन्हीं की इच्छा से वहाँ विघ्न उपस्थित हुए। उन्हीं की इच्छा पूर्ण हो। देखूं – वे कहाँ व्यवस्था करते हैं !" – यही सब सोचते-सोचते मैं ओंकारनाथ के मार्ग पर चल पड़ा। मर्दानपुर में रहते ही समाचार मिला था कि राजा महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द जी) ने देहत्याग कर दिया है।[१]

ओंकारेश्वर और बड़ौदा में

रेलवे स्टेशन से कई मील चलकर ओंकारनाथ पहुँचा। अहा, क्या सुन्दर दृश्य था ! पहाड़ के किनारे शिव का मन्दिर है – चारों ओर जंगल है – नर्मदा का निर्मल प्रवाह है – निकट ही एक छोटा-सा पर्वत है – उसी को वेष्ठित करते हुए नर्मदा सागर की ओर चली जा रही हैं। अतृप्त नेत्रों से वह दृश्य देखने लगा – जितना ही देखता, उतना ही और भी देखने की इच्छा होती। स्नान आदि के बाद ओंकारनाथ का दर्शन-पूजा आदि करके कहीं अड्डा जमाने की चेष्टा में घूमने लगा। नागाओं के एक अखाड़े में दाल-रोटी की भिक्षा दी और कहा – "पड़े रहो।" परन्तु वहाँ के शोरगुल के माहौल और गाँजा देवी की उपासना की धूम के बीच मेरे लिये पड़े रहना भी असम्भव प्रतीत हो रहा था। गरमी का मौसम था, इसलिये वहाँ बहुत-से लोग आये हुए थे। सर्वत्र स्थानाभाव था। शरीर भी अस्वस्थ लग रहा था, इसीलिये कहीं जंगल में भी पड़ने का साहस नहीं हुआ। क्या किया जाय? एक साधु बोले – नर्मदा के किनारे भरुच अच्छी जगह है, छोटा शहर है, भिक्षा की सुविधा है, आदि आदि। दो रात किसी प्रकार बिताने के बाद मैंने निश्चय किया कि भरुच जाकर रहने की चेष्टा करेंगे और पुन: चल पड़ा।

बड़ौदा होते हुए भरुच की ओर चला। बड़ौदा में उतरते ही खुफिया पुलिस ने परेशान करना शुरू किया – कहाँ से आ रहे हैं? क्यों आये हैं? कहाँ ठहरेंगे? आदि आदि। मैं बोला – चलो, तुम्हारे ही यहाँ ठहरूँगा !" तब वह – "जी, वहाँ तो, वहाँ तो ..." – करने लगा। उसी समय दरोगा मुफ्ती में आकर हाजिर हुए। उन लोगों का भाव देखकर ही समझ गया कि ये अफसर हैं, बाद में पता चला कि दरोगा हैं। उनसे ठहरने की व्यवस्था कर देने को कहा। उन्होंने तत्काल आदमी भेजकर नागाओं के एक अड्डे में व्यवस्था कर दी और गरम-गरम पूरियाँ मँगवाकर खिलायीं। जैसा सर्वत्र था, वैसे ही वह भी अफीम और गाँजे का एक अड्डा था। वहाँ बाबाजी और उनके चेले लोग निरन्तर धुम्र उद्गीरण करते रहते थे। ब्रह्म तो आमलकवत् हाथ में ही था। और साधना की आवश्यकता भी भला क्या थी? यह अध:पतन की चरम सीमा है। इसे सुधारना सहज नहीं है, लोकमत बनाकर यदि कभी कानून द्वारा प्रयास किया जाय, तो शायद कभी बन्द हो सकता है। सभी लोग बुरे या दुष्ट हों, ऐसी बात नहीं है, अनेक लोग काफी अच्छे हैं – त्यागी हैं, परन्तु अधिकांश अफीम और गाँजे के दास हैं। जानता हूँ कि सभी

१. उनका देहत्याग १० अप्रैल १९२२ को हुआ था।

लोग 'तोतापुरी' नहीं हो सकते, परन्तु यह नशा-पानी ही उनका सारा समय ले लेता है और सम्प्रदाय का घोर अनिष्ट करता है। जो धन तथा समय लोकसेवा या धर्म-प्रचार में लगाने से प्रभूत कल्याण होता, इस गरीब देश का वह लाखों रुपया सब अफीम और गाँजे की भेंट चढ़ जाता है। और उसकी कोई सीमा नहीं है। अन्य कोई कार्य न होने के कारण धूनी के सामने बैठे-बैठे दम मारते रहने से, वह शारीरिक तथा मानसिक क्रियाशीलता को जड़ीभूत किये रहता है। अपना कल्याण उसी से जुड़ा है और देश-दुनिया के कल्याण की बात कभी मन में ही नहीं आती। अस्तु।

भरुच (गुजरात) की ओर

नर्मदा में स्नान आदि करने के बाद जल के पास ही बने एक खाली शिव-मन्दिर में आश्रय लिया। उसके बाद समय होने पर भिक्षाटन के लिये गया। पास में पैसे नहीं थे। एक मुहल्ले में जाकर देखा कि प्राय: सभी मकानों के द्वार तथा खिड़कियाँ बन्द हैं। एक मकान के सामने जाकर बोला – 'नारायण हरि' – बोलते ही एक वृद्ध बाहर निकले और बोले – "भोजन पकने में अभी विलम्ब है, थोड़ी देर बाद आइयेगा।" ब्राह्मण का मकान था। भिक्षा के लिये अन्यत्र गया। एक काफी बड़े मकान का द्वार खुला देखकर ज्योंही 'नारायण हरि' – कहा, त्योंही एक पैरलिटिक (लकवा-ग्रस्त) जैसा व्यक्ति दरवाजे के पास आकर तरह-तरह से मुँह बनाने लगा। शायद पागल रहा होगा। पहले तो मुझे हँसी आयी, पर उसके बाद सहसा भीतर से ऐसी नाराजगी हुई कि और कहीं कुछ प्रयास न करके उसी शिव-मन्दिर में लौट आया।

मन में आया – "पेट के लिये क्या द्वार-द्वार घूमते हुए मरना और इस प्रकार अपमानित होना होगा! छी! शरीर जाय तो जाय, पर अब और नहीं होगा। जगदम्बा की इच्छा होगी, तो वे देह को रखेंगी, नहीं तो नष्ट हो जाय।"

अमृतसर की वह घटना याद हो आयी। उस समय भी इसी प्रकार का संकल्प किया था, परन्तु राजा महाराज के आदेश से वह भंग हो गया था। परन्तु इस बार मैं दृढ़ था। – "तुम्हारी इच्छा ही पूर्ण हो! हे जगदम्बा, अयाचित रूप से जो मिल जायेगा, उसी के द्वारा शरीर धारण करूँगा, समझूँगा कि तुम्हारी वही 'इच्छा' है! शरणागत! शरणागत!"

सारे दिन बैठे-बैठे जप आदि किया। भूख खूब तीव्र होकर फिर मन्दीभूत हो गयी। शरीर दुर्बल प्रतीत हो रहा था। घूमने-फिरने के कारण नियमित भोजन आदि तो हो ही नहीं रहा था। अपराह्न में निकट स्थित एक अन्य शिव-मन्दिर से एक गुजराती ब्रह्मचारी और दो महाराष्ट्रीय सज्जन आये। ब्रह्मचारी जी बोले – "देख रहा हूँ कि आप सुबह से यहीं हैं। इस मन्दिर में तो प्राय: कोई आता नहीं है। भिक्षा हुई है?" – "नहीं।" उन्होंने तत्काल उन महाराष्ट्रीय सज्जनों कुछ भोजन आदि लाने को कहा। शाम के समय उन लोगों ने पूरी-तरकारी लाकर खूब यत्नपूर्वक खिलाया। अगले दिन भी लाने को कह गये।

कई दिन भरुच में रहा। और कोई कष्ट नहीं हुआ। वहीं पर सब जुट जाता था, परन्तु 'मनवा-राम' अधिक एकान्तप्रिय हो उठा था, वहाँ भी अच्छा नहीं लग रहा था। पाँव के चक्र ने फिर घुमाना आरम्भ किया। ब्रह्मचारी ने कहा था – वहाँ से कुछ मील नीचे ही समुद्र की ओर भरकुट (भृगुकच्छ) खूब सुन्दर स्थान है, वहाँ भिक्षा की सुविधा है और भरुच से निर्जन और ठण्डा भी है।

नर्मदा के किनारे-किनारे चलना शुरू किया। भरकुट सचमुच ही सुन्दर स्थान था। नर्मदा के किनारे ही एक सर्व-देवता का मन्दिर है। उसमें शिव के प्रधान देवता होने के बावजूद माँ काली से लेकर बासुकी तक सभी हैं। एक गोसाईं पुजारी हैं। रास्ता चलते-चलते मन में आया – "जब अयाचित दान पर ही निर्भर रहना है, तो कुछ दिन पूर्णत: काष्ठ-मौन-व्रत का क्यों न पालन किया जाय! देखें तो सही कि क्या होता है! – जैसे बावन वैसे तिरपन। बस, रास्ते में ही संकल्प करके जब मैं भरकुट पहुँचा, तो पक्का काष्ठमौनी हो चुका था, अर्थात् इशारे से भी कुछ न बोलनेवाला सन्त! इसका भी अनुभव लेना आवश्यक है, यद्यपि यह खतरनाक है और इसमें भूख से मृत्यु की ही अधिक सम्भावना है। परन्तु एक बार जब निश्चय कर लिया है, तो अन्त तक देखना ही होगा।

बैठा हुआ हूँ। लोग आ रहे हैं और जा रहे हैं। देख भी रहे हैं, परन्तु कोई कुछ बोलता नहीं है। अपराह्न के ढाई-तीन बज गये होंगे, तब भी बैठा ही हुआ हूँ और यथासाध्य जप कर कर रहा हूँ। पुजारी मुझे कई बार देख गया है, परन्तु कुछ बोला नहीं। सहसा आकर उसने पूछा – "भिक्षा हुई है? काष्ठमौनी को बोलने का अधिकार तो है ही नहीं, संकेत द्वारा सूचित करने का भी अधिकार नहीं है। इसीलिये उसकी ओर न देखकर चुपचाप बैठा रहा। सोचा – लगता है कि परीक्षा आरम्भ हो गयी है। पुजारी भीतर चला गया। थोड़ी देर बाद एक अन्य व्यक्ति को साथ ले आया। उसने थोड़ी देर तक मेरी ओर देखने के बाद कहा – "महाराज, भिक्षा तैयार है, आइये।" मैं भी अच्छा भलेमानुष, जरा भी विलम्ब किये बिना चुपचाप उठ खड़ा हुआ। उन लोगों ने श्रद्धापूर्वक दाल-रोटी दिया। तृप्तिपूर्वक भोजन किया।

वहाँ एक सप्ताह रहा। अधिक दिन रहने की इच्छा होते हुए भी, वहाँ रहना सम्भव न था। गाँव के लोग मेरे पास बैठकर ही बातें करते और तम्बाकू आदि भी पीया करते थे। उनका उद्देश्य अच्छा ही था – साधुसंग, परन्तु साधु के तो

प्राण निकल रहे थे। काष्ठमौन होने के कारण बोला नहीं जा सकता था – चुप रहो या इस समय जाओ।

भरकुट से दो मील दूर एक विशाल वटवृक्ष और कुछ पुराने मन्दिरों के भग्नावशेष थे। एक दिन उसे देख आया था – खूब अच्छा लगा था। एक वैरागी बाबाजी एक टूटे हुए मन्दिर के एक अंश में निवास करते थे। निश्चय किया कि भाग्य में जो भी हो, वहीं जाकर पेड़ के नीचे रहूँगा। एक दिन चुपचाप चला गया और उस वटवृक्ष के नीचे सफाई करके कम्बल बिछाकर अपना आसन जमा लिया। भिक्षा – भगवान भरोसे ! प्रथम दिन उन्हीं वैरागी बाबाजी ने भिक्षा दी। उसके बाद एक-दो करके लोग आने लगे। बाबाजी प्रतिदिन खूब यत्न-पूर्वक घी में पकाकर भोजन कराने लगे, दिन में २-३ बार चाय तक देने लगे। सप्ताह पूरा होते-न-होते सारे दिन भीड़ बनी रहने लगी। एक दिन एक जागीरदार अपनी पत्नी के साथ आये, तब पता चला कि बाबाजी उन्हीं के घर से और उस ग्राम के अनेक लोगों के पास से 'मेरी सेवा के लिये' दूध, घी, आटा, चीनी, चाय आदि ले आया करते थे। जागीरदार बोले कि वे स्वयं ही सारी व्यवस्था करने को तैयार हैं और उन्होंने एक छप्पर डालकर आश्रम बनवाने का आग्रह दिखाया। वह सब उन्हीं की जमीन थी। हाय भगवान, क्या करूँ ! देखा कि चुप रहने से आफद बढ़ी है, कम नहीं हुई है। महामाया की माया को भला कौन समझ सकता है? उनकी दया भी कितनी है ! यहाँ भी – बस्ती से दूर इस निर्जन में भी भरपूर भोजन आदि दे रही हैं ! सब उन्हीं की दया है। वहाँ के कुँए का पानी बड़ा खराब था – खारा था, गरम किये बिना पीया नहीं जा सकता था और उसे भी गरम ही पीना पड़ता था, इसीलिये पानी की जगह चाय की व्यवस्था थी। समुद्र के निकट होने के कारण नर्मदा वहाँ पर लवणयुक्त थीं। वह घी ही पेट को ठीक रखे हुए था। जो भी हो, क्रमशः बाबाजी का लोभ बढ़ने लगा। दाता लोग भी कई बार आकर बता जाने लगे कि सेवा में क्या दिया है। सम्भवतः लोगों के मन में सन्देह होता था। धन-संग्रह भी आरम्भ हो गया है – यह देखकर वहाँ से खिसक पड़ने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। जैसे वहाँ गया था, ठीक वैसे ही चुपचाप वहाँ से खिसक पड़ा।

बिल्कुल समुद्र के पास एक गाँव है – शायद हरिपुर (दहेज-बन्दर के पास)। गाँव से बहुत दूर जंगल के पास एक शिव-मन्दिर है, पानी भी बुरा नहीं है – आदि सुनने में आया था। उसी ओर चल पड़ा। सारे दिन चलता रहा, पर कोई गाँव नहीं मिला, नर्मदा के किनारे केवल बालू-ही-बालू दीख रहा था। प्यास के कारण कण्ठ सूख गया था, भूख से प्राण आकुल थे। बड़ी गर्मी भी पड़ रही थी, धूप काफी तेज थी। समुद्री हवा लगने पर भी मार्तण्ड की किरणें सुखास्पद न थीं। सोचा भलीभाँति स्नान कर लूँ। कौपीन मात्र पहले हुए पानी में उतर पड़ा। वहाँ नर्मदा की समुद्र जैसी अवस्था है – पानी मटमैला और खारा है। उसमें काफी दूर निकल गया, पर पानी केवल घुटने तक ही मिला। कमर भर पानी की खोज में जा रहा था। उस समय भाटा चल रहा था।

सहसा बोध हुआ कि पाँव के नीचे की मिट्टी खिसक रही है। देखते-ही-देखते दाहिने पाँव का आधा और बाँये पाँव का थोड़ा हिस्सा भीतर घुस गया। निकालने का प्रयास करने पर वह और भी अन्दर घुसने लगता था। दलदल ! सर्वनाश ! अब उपाय क्या था ! जन-प्राणी भी न थे कि किसी को पुकारता, केवल 'राम भरोसा'। अब जगदम्बा जो भी करें ! उस अवस्था में मृत्यु की प्रतीक्षा करना छोड़ और कोई उपाय न था। इसीलिये मैंने मन को समझाकर उसे अन्तिम ब्रह्म-स्मरण में लगाया – ॐ ... ॐ ... ॐ ...। काफी समय बीत चुका था – अर्धबाह्य अवस्था थी – काल का कराल रूप देखने की प्रतीक्षा में था। और भय तो था ही नहीं, आनन्द भी नहीं था, केवल शान्त भाव था – शान्ति ... ॐ

पुरखों की थाती

क्षणशः कणशः चैव विद्यामर्थं च साधयेत् ।
क्षणत्यागे कुतो विद्या कणत्यागे कुतो धनम् ।।

– प्रति क्षण विद्या का अर्जन करना चाहिये और प्रति कण द्वारा धन का संचय करना चाहिये, (क्योंकि) क्षण को नष्ट करने से विद्या और कण को नष्ट करने से धन भला कैसे एकत्र हो सकता है।

क्षमा-शास्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेव उपशाम्यति ।।

– जिस व्यक्ति के हाथ में क्षमारूपी शस्त्र विद्यमान है, उसका दुष्ट व्यक्ति कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता, क्योंकि तृणरहित खाली स्थान पर गिरी हुई अग्नि अपने आप ही शान्त हो जाती है।

क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम् ।।
अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैव दूषणम् ।।

– कोई शत्रुता दिखाये या मित्रता, दोनों के प्रति क्षमा-भाव रखना महात्माओं का सद्गुण है, परन्तु यदि राजा लोग अपराधियों तथा हिंस्र पशुओं के प्रति क्षमाभाव दिखायें, तो वही उनका दोष बन जाता है।

... ॐ ... ॐ ... । नियति खींच लायी है । जगदम्बा की यही इच्छा है कि पवित्र नर्मदा-गर्भ में ही शरीर जाय, चिर अज्ञातवास में चले जाना । यहाँ भी कोई चिह्न न छोड़ जाना । वाह । अच्छा है । संन्यासी का यही तो काम्य है – not a stone to speak. (बतानेवाला एक पत्थर तक न रह जाय ।) जब तक देह के साथ सम्पर्क रहता है, तब तक व्यक्ति दुनिया के साथ रहता है और देह का नाश हो जाने पर, बस । फिर चिह्न तक नहीं रहेगा, अनन्त में विलीन हो जायेगा, ब्रह्मभूत हो जायेगा । ॐ ब्रह्म, ॐ ... ॐ ... ॐ ... ।

सहसा 'सों-सों' और 'भड़-भड़' की आवाज से चकित होकर मैंने देखा – समुद्र की दिशा से पहाड़ के समान ऊँची जलराशि, बिखरे केशोंवाले, उन्मत्त के समान वायुवेग से दौड़ी चली आ रही है । मटमैला रंग । मानो क्रुद्ध-नेत्र एक विशालकाय दैत्य ध्वंस की इच्छा से प्रचण्ड वेग से दौड़ा चला आ रहा हो । ज्वार आ रहा है । ... बस, एक क्षण में निश्चिन्त हो जाऊँगा । मन, ब्रह्म-चिन्तन में डूब जाओ, ब्रह्म-सागर में डूबो ... डूबो ... डूबो ... सच्चिदानन्द ... सच्चिदानन्द ... शिवोऽहम् ... शिवोऽहम् ... ॐ ... ।

मछली के समान छिटककर २० हाथ दूर – बालुकामय तट पर जा गिरा । यंत्रवत् दो-चार पलटी खाने के बाद किनारे पर निकल आया । नर्मदा ने लिया नहीं, काल ने मुख में लेकर भी निगला नहीं, लगता है जगदम्बा का आदेश कुछ और ही है, भोग और भी बाकी हैं, तुम्हारी इच्छा ही पूर्ण हो माँ ! तुम्हारी जय हो, जय हो, ॐ ... ।

चोट कोई विशेष नहीं लगी थी, केवल दाहिने हाथ के कन्धे में थोड़ी पीड़ा हो रही थी, पर जोर से नहीं । दाहिने पाँव में भी पीड़ा हो रही थी, परन्तु जोर से नहीं, और कुछ भी नहीं हुआ था । आश्चर्य ! कौन है वह (प्रिय), जिसने उसके बीच से इस प्रकार उद्धार करके सुरक्षित स्थान में फेंक दिया? वह कौन था? हे मेरे सर्वस्व, मेरा अपना कहने को इस त्रिभुवन में तुम्हारे सिवा कोई दूसरा नहीं है – हे मेरे सर्वस्व !

थोड़ी देर बैठने के बाद फिर धीरे-धीरे आश्रय की तलाश में चल पड़ा । कुछ मील जाने के बाद एक मन्दिर और गोसाइयों का एक आश्रम मिला । वहाँ जाकर कुँए के पानी से स्नान करके शरीर का कीचड़ तथा थकान दूर करके बैठा था । साधु बाबा ने स्वागत किया और संध्या के पूर्व ही खाने को दूध और रोटी दिया । मृत्यु के मुख से सद्य: लौटकर मेरी वृत्ति अन्तर्मुखी हो गयी थी, जप चल रहा था । शरीर क्लान्त था, सोते ही नींद आ गयी ।

उठने पर देखा कि काफी पूर्व ही सुबह हो गयी है, सूर्य बहुत ऊपर उठ चुके हैं । दोपहर में वहीं भिक्षा प्राप्त हुई । अपराह्न में फिर यात्रा आरम्भ हुई ।

चार मील दूर एक गाँव की धर्मशाला में रात्रिवास हुआ – हरिपुर वहाँ से ज्यादा दूर न था । सुबह एक गोसाईं ने मुझे खाने को मिर्च का अचार के साथ बाजरे की रोटियाँ दीं और खूब खट्टा छाछ पिलाया । इधर के साधारण लोगों का वही नित्य का खाद्य है, कभी-कभी सम्भव हुआ तो थोड़ी-सी उड़द की दाल बना लेते हैं ।

अपराह्न में हरिपुर (दहेजबन्दर के निकट) में ग्राम के चौरे[१] पर पहुँचकर अड्डा जमाया । अगले दिन सुबह घूमते-घूमते पूर्वोक्त शिव-मन्दिर देखने गया । वह नर्मदा के तट के पास जंगल में था । स्थान खूब निर्मल और गाँव से करीब डेढ़ मील दूर था । कुँए का पानी नमकीन था, परन्तु बहुत ज्यादा नहीं । मन्दिर के पास ही एक झोपड़ा था, जो तीन ओर से खुला था । कोने में एक छोटा-सा धूनी का स्थान भी था । मैंने वहीं पर आश्रय लिया । पुजारी दिन में एक बार आकर पूजा कर जाता था । इसके सिवा वहाँ लोगों का आना-जाना नहीं के बराबर था ।

जंगल से उपले और सूखी लकड़ियाँ एकत्र की और जगदम्बा का स्मरण करके धूनी प्रज्वलित कर दी । उस दिन दोपहर को एक किसान ने थोड़ी-सी मूंगफलियाँ और खजूर देकर पूजा की और प्रसाद मुझे दे गया । उसी को खाकर रहा । दूसरे दिन भी वह इसी प्रकार मूंगफलियाँ और खजूर दे गया । उस दिन एक टिन के ऊपर बालू रखकर मूंगफलियों को भुन लिया था । उसके बाद अगले दिन भी ऐसा ही हुआ । इसी प्रकार लगातार चार-पाँच दिन तक एक ही खाद्य-पदार्थ मिला । इसके फलस्वरूप मुझे आँव की बीमारी हुई । कष्ट तो अधिक नहीं था, परन्तु इसने शरीर को दुर्बल कर दिया । छठें या सातवें दिन वहाँ गायकवाड़ी ग्राम्य जमींदार शिव-दर्शन करने आये और मुझे देखकर पास पाये, साथ में अपना खजूर तथा मूंगफलियाँ लिये वही किसान था । उनके साथ बातें हुई । जब उन्होंने सुना कि मैं गाँव में भिक्षा के लिये नहीं जाता और कई दिनों से वे मूंगफलियाँ तथा खजूर ही खा रहा हूँ, तो वे बड़े विस्मित हुए । वे तत्काल उस किसान को साथ ले गये और एक लोटा, चावल, मूंग की दाल, घी, कुछ मसाले, नमक आदि भेज दिया । और किसान ने मुझे सुनाते हुए कहा – "चिन्ता नहीं, अच्छी तरह खाओ महाराज । वे खाली होते ही फिर भर देने को कह गये हैं । आदमी अच्छे हैं ।" आदि आदि । ❖ **(क्रमशः)** ❖

---

१. चौरा – प्रत्येक गाँव के भीतर या बाहर की ओर बना होता है । यह ग्रामदेवता का स्थान और ग्राम-पाठशाला, पंचायत का बैठका, नाटक आदि का सार्वजनिक स्थान है । धर्मशाला का भी काम देता है, पथिकगण यहीं पर ठहरते हैं । यह गाँव के पटेल या मुखिया की देख-रेख में रहता है । यह गुजरात और महाराष्ट्र के प्रत्येक ग्राम में होता है ।

महायोगिनी बहिणाई

सौ. जयश्री नातू

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धः ततो यान्ति परां गतिम् ।। ६/४५

गीता में भगवान कहते हैं – "योगीगण पिछले जन्म से भी अधिक प्रयत्न करके वर्तमान जन्म में पापों से मुक्त हो जाते हैं और पिछले अनेक जन्मों की साधना से संचित संस्कारों द्वारा सिद्ध होकर मोक्ष गति को प्राप्त कर लेते हैं।"

सन्त बहिणाई के चरित्र में इस वाणी का प्रत्यक्ष निदर्शन प्राप्त होता है। वे स्वयं ही अपने आत्म-निवेदन में अपने पिछले जन्मों का स्पष्ट उल्लेख करती हैं। उनका आत्म-निवेदन ही उनकी आत्मकथा है। बहिणाई १७वीं सदी में हुईं ऐसी प्रथम सन्त हैं, जिन्होंने अपनी आत्मकथा लिखी है। उनके चरित्र से भक्तों को उनके अनेक गुणों से अलंकृत व्यक्तित्व को जानने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

* बहिणाई का वैशिष्ट्य *

बहिणाई की गुण-सम्पदा तथा चरित्र अनेक दृष्टियों से अन्य सन्तों से भिन्न है। मुक्ताई और जनाबाई – महाराष्ट्र की ये दोनों सन्त-स्त्रियाँ अविवाहिता थीं। परन्तु बहिणाई विवाहिता, गृहस्थी चलानेवाली और बच्चों की माता भी थीं।

जनाबाई तथा मुक्ताबाई को नित्य या सुदीर्घ काल तक अपने सद्‌गुरु का सान्निध्य मिला था, पर बहिणाई को ऐसा सौभाग्य नहीं हुआ था। शिष्य के विकास-काल में गुरु का जितना नैकट्य तथा मार्ग-दर्शन जरूरी है, बहिणाई को उतना भी नहीं मिला। बहिणाई सामान्य स्त्रियों की भाँति अपने पति के अधीन रहीं और अपनी इच्छा के विपरीत गृहस्थी चलाती रहीं। यह संघर्ष ही बहिणाई के जीवन का केन्द्र-बिन्दु रहा।

* जन्म और विवाह *

बहिणाई के आत्म-निवेदन के रूप में उनका विस्तृत जीवन-चरित्र मिलता है। बहिणाई का जन्म १६२८ ई. में महाराष्ट्र की सुप्रसिद्ध एलोरा की गुफाओं के पास स्थित देवगाँव में हुआ था। आऊजी और जानकी नामक भक्तिमान ब्राह्मण दम्पति इनके पिता-माता थे। आऊजी को भगवान शिवजी के कृपा-प्रसाद-रूप यह कन्या प्राप्त हुई थी। जब इनकी जन्म-कुण्डली बनाई गयी, तो आऊजी ने सुना कि यह कन्या पूरा जीवन भगवच्चिन्तन में बिताएगी। परन्तु तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियों के अनुसार आऊजी ने कन्या का विवाह निश्चित कर दिया। ३ साल की आयु में ही रत्नाकर पाठक नामक विधुर से बहिणाई का विवाह कर दिया गया। विवाह के समय वधू की आयु ३ और वर की ३० वर्ष थी। पाठक कुल में शक्ति-उपासना तथा वेद-शास्त्रों के अध्ययन की प्रथा थी। स्पष्ट है कि रत्नाकर वारकरी साम्प्रदाय के विरुद्ध थे। उनके विचार में भक्तिमार्ग निरर्थक था। जैसे उनके विचार एकांगी थे, वैसे ही उनका स्वभाव भी क्रोधी होने के कारण उन्हें अपनी आजीविका चलाने में भी दिक्कत आती थी। स्वयं बहिणाई अपने पति का वर्णन इस प्रकार करती हैं –

"मेरे पति मूर्तिमान क्रोध हैं। वे मुझे पल भर भी एकान्त नहीं देते। पुराणों में मैंने सुना था जमदग्नि नामक ऋषि सबसे अधिक क्रोधी स्वभाव के थे, परन्तु अपने पति के रूप में मुझे जमदग्नि ही मिले हैं।" इस निवेदन से स्पष्ट हो जाता है कि बहिणाई और उनके पति शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक – तीनों स्तरों पर कितने विसंवादी थे और यह भयानक विसंवाद उनके जीवन में एक दारुण संघर्ष का कारण था।

* गृहस्थी और परमार्थ *

मुक्ताई और जनाई की तुलना में बहिणाई का गृहस्थ जीवन अलग है। यह एक विवाहिता का गृहस्थ जीवन है। इसकी जिम्मेदारियाँ तथा कर्तव्य-धर्म भी पूर्ण रूप से भिन्न है। इसमें व्यक्ति पर, खास कर विवाहित स्त्रियों पर बन्धन भी अधिक होते हैं और १७०० ई. में तो वह असंख्य शृंखलाओं से जकड़ी हुई थी। पति, परिवार और घर – यही उसका विश्व था। इसके बाहर उसके लिए कोई स्थान न था। बहिणाई तो जन्म से ही विरक्त थी। उसे प्रापंचिक तथा सर्व-मान्य पारिवारिक जीवन में जरा भी रस न था। वे कहती हैं – "छोटी बालिकाएँ खेल-खेल में हमेशा चूल्हा-बर्तन खेलती है, मगर मुझे एक कोने में बैठकर भगवान का नाम लेते रहना अच्छा लगता था। बालिकाओं के दाण्डीया तथा चक्री जैसे खेल अच्छे नहीं लगते थे, उसकी जगह मन में शान्ति बिछाये एकान्त में बैठना ही अच्छा लगता था।"

इस प्रकार बहिणाई बचपन से ही विरागी थी। तो भी वे अपना स्त्री जीवन भूल न पाई। मुक्ताई जिस तरह से अपना स्त्रीत्व पार कर गयी, उस तरह बहिणाई न कर पाईं, क्योंकि बहिणाई का व्यक्तित्व और परिस्थितियाँ भिन्न थीं। बहिणाई अपनी रचनाओं में बार-बार अपने बन्धनों का जिक्र करती हैं और अपने स्त्री होने की वेदना को प्रगट करती हुई कहती हैं – "मैंने जो स्त्री का शरीर पाया है, यह सर्व प्रकार से पराधीन है। मैं चाहूँ भी तो इस शरीर को भोग से अलग नहीं रख सकती। मेरे लिए तो शारीरिक भोग शत्रु के समान है, मगर मेरी सुनता कौन है? मेरी चिन्ता किसे है? पिछले जन्म

में मैंने कितने पाप किए थे, जो इस जन्म में स्त्री-देह मिली है। उन्हीं पापों का फल मैं भुगत रही हूँ और इसी कारण मैं उन पुरुषोत्तम से मिल नहीं पा रही हूँ।''

बहिणाई ने यहाँ वेदना को इतने स्पष्ट तथा दुखभरे शब्दों में प्रकट किया हैं कि क्षण भर के लिये हमारे हृदय में भी उनके प्रति संवेदना पैदा होती है। पत्नी होने के नाते अपना कर्तव्य और शरीर के भोग से दूर भागनेवाला आध्यात्मिक मन, संसार और परमार्थ इन दो छोरों पर होनेवाला बहिणाई का मानसिक संघर्ष यहाँ और भी गहरा हो जाता है। देहभोग में उनका मन जलबिन मछली की तरह छटपटाता रहता है। परम तत्त्व को पाने की उन्हें परम लालसा है। उसकी साधना में पारिवारिक जीवन बाधक है। बहिणाई को इसका अपार दुख है। इसलिए परमार्थ की ओर खिंचता हुआ उनका मन भोग का वर्णन इस प्रकार करता है – ''यह मायामय जीवन मुझे कै की भाँति घिनौना लगता है।''

दूसरी ओर संसार के प्रति इतना तिरस्कार, इतनी घृणा प्रकट करनेवाली बहिणाई इसे छोड़ने की कल्पना तक नहीं कर सकती। पति-पत्नी में झगड़ा हो जाने पर जब उनका पति घर छोड़कर जंगल जाने की बात करता है, तो बहिणाई बैचेन हो उठती हैं। वे कहती हैं – ''यदि मेरे पति ने योग ले लिया, तो मैं निश्चय ही प्राण दे दूँगी। उसका चरणामृत लिए बिना अन्न ग्रहण करना मेरे लिए मांस खाने जैसा है। पति-दर्शन के बिना दिन गुजरना तो पापों का ढेर लगाना है। गुरु की आज्ञा मेरे सिर-आँखों पर है, मेरा पति ही मेरा ब्रह्म है।''

यहाँ बहिणाई का परम्परावादी दृष्टिकोण दीख पड़ता है और दूसरी ओर उनके व्यक्तित्व की दुहरी बुनावट भी प्रकट होती है। उनका एक रूप है परम्परावादी पतिव्रता का और दूसरा है आध्यात्मिक पूर्णता की ओर अग्रसर साधक का। पतिव्रता के रूप में वे जीवन को स्वीकार करती हैं। अपनी वेदना और दुख को छिपाती नहीं। तो भी जीवन के साथ विचारपूर्वक समझौता करती हैं। किसी ने उन्हें अपने कर्तव्य निभाने का आदेश नहीं दिया है। पर जीवन के साथ यह समझौता करते समय उन्होंने अपनी साधना की बलि नहीं चढ़ाई। जीवन चलाने के लिए उन्होंने कुछ व्यावहारिक शर्तें मान लीं, परन्तु अपने जीवन के परम उद्देश्य से वे पीछे नहीं हटीं। उन्होंने साधना करने का निश्चय कर लिया था। वे स्पष्ट कहती हैं – ''हे दीनबन्धु, मेरे पति के हाथों तू मेरी देह को पीड़ा देता है, पर मेरे हृदय ने एक दृढ़ निश्चय कर लिया है। मेरे प्राण चले जायँ, तो भी मैं तुम्हारा नाम नहीं छोड़ूँगी। यह शरीर तो एक दिन जाने ही वाला है, पर ज्ञानदृष्टि से तुम्हारा अनन्त स्वरूप देखने की मेरी इच्छा जा नहीं सकती। तुम्हारी भक्ति के साथ ही मैं अपने स्वधर्म का भी पालन करूँगी और अन्त में ज्ञान द्वारा तुम्हारे स्वरूप को भी प्राप्त करूँगी।''

यहाँ बहिणाई का ईश्वर-प्राप्ति का संकल्प स्पष्ट हो जाता है। वे समझती हैं कि एक बार यह इच्छा होने के बाद देह चाहे कितनी बार मरे और जन्मे, पर इस इच्छा की यात्रा आगे चलती ही रहती है – अन्तिम लक्ष्य तक। उनके व्यक्तित्व की एक अन्य विशेषता यहाँ नजर आती है – व्यक्ति का धर्म होता है समाज के साथ चलना। हर सन्त-महात्मा प्रचलित सामाजिक रीतियों के अनुसार आचरण करते हैं। उनके उल्लंघन से समाज की हानि होती है। उनका आचरण किस हद तक उचित है, यही बात बहिणाई का पूर्ण विकसित तथा ज्ञानी मन आचरण में लाता है। अपना धर्म खोकर वे भगवान की प्राप्ति नहीं चाहतीं। १७वीं सदी की सामाजिक स्थिति पर यदि गौर किया जाए, तो बहिणाई का यह विचार एक असाधारण त्याग प्रतीत होता है। जब किसी में कोई दिव्य या असामान्य गुण प्रकट होता है, तब उस व्यक्तित्व की बुनियाद किसी असामान्य श्रद्धा या दैवी सामर्थ्य से जुड़ी होती है। बहिणाई के बारे में भी कुछ ऐसा ही हुआ।

* गुरु से भेंट *

बचपन से बहिणाई सन्त तुकाराम महाराज के अभंगों से सुपरिचित थीं। धीरे-धीरे वे रचनाएँ उनके हृदय की गहराई में उतरने लगीं। तुकाराम महाराज की अलौलिक वाणी और व्यक्तित्व उनके मन-बुद्धि तथा हृदय पर छाने लगा। मन-ही-मन वे उनके गुरु बन गये। सोते-जागते वे अपने गुरु का चिन्तन करने लगीं। महापुरुष तो महापुरुष ही होते है। देह से चाहे वे कितने भी दूर क्यों न हो, पर वे अपने शिष्यों की पुकार का उत्तर अवश्य देते हैं। यही सबका अनुभव है। बहिणाई ने भी स्वप्नावस्था में अपने गुरु का दर्शन और उनसे मंत्र भी पाया। कठिनाई के समय उन्होंने बहिणाई को मार्ग-दर्शन भी दिया। इसी प्रकार एक बार तुकाराम महाराज ने बहिणाई को सदा स्वधर्म निभाने का सन्देश दिया था। इसीलिए वे जी-जान से पत्नी होने का कर्तव्य भी निभा रही थीं। पर कौन-सा शिष्य अपने गुरु के प्रत्यक्ष दर्शन बिना रह सकता है। बहिणाई अपने पति के साथ कोल्हापुर में और तुकाराम महाराज पुणे के पास देहू में रहते थे। बहिणाई के प्राण उन्हें देखने के लिए छटपटा रहे थे। लेकिन बन्धनों से जकड़ी हुई एक संसारी स्त्री भला कर भी क्या सकती थी?

बहिणाई के पास कुछ करने का अधिकार तो न था, पर भक्ति की अपार क्षमता थी। उनका पति उन्हें सताने में जरा भी कसर नहीं छोड़ते थे। शक करना, पीटना और इसके साथ ही वे सन्तों की निन्दा भी करने लगे। एक दिन उन्होंने श्री तुकाराम महाराज की भी निन्दा की। सहसा उनके शरीर में विचित्र दाह होने लगा। दाह की पीड़ा से रत्नाकर तड़फड़ाने लगा। किसी भी उपाय से उसे चैन नहीं मिला। तब किसी ब्राह्मण के हाथ फेरने से उसे शान्ति मिली।

रत्नाकर विश्वासपूर्वक कहता रहा – ''तुकाराम स्वयं आये और मेरा दाह मिटाकर मुझे शान्ति दी।'' इस घटना से रत्नाकर बदल गया। वह तुकाराम महाराज के दर्शन करने बहिणाई को साथ लेकर देहू गया। यह बहिणाई के त्याग, तितीक्षा और सहिष्णुता का फल था। देहू के विठ्ठल-मन्दिर सन्त तुकाराम के दर्शन होते ही यह फल अति मधुर हो गया। बहिणाई आनन्द-विभोर हो उठीं। इसका वर्णन वे स्वयं करती हैं – ''जिस मूरत को मैंने कोल्हापुर में सपने में देखा था, उसी को आज मैं अपनी आँखों के सामने प्रत्यक्ष देख रही हूँ। इसका आनन्द आँखों से टपक रहा है। अब तो मुझे दिन-रात न नींद आती है न चैन। तुकोबा राय मेरे अन्तर्घट में आ बसे हैं। इस सुख के बारे में अब मैं कैसे बताऊँ? जिन्हें इसका अनुभव है, वे ही मेरा सुख समझेंगे।''

* ज्ञानवती बहिणाई *

बहिणाई अपने पति के साथ देहू में रहकर अपने गुरुमुख से कीर्तन-भजन का आनन्द लेने लगी। परन्तु उनके नसीब में सीधी लकीरें थी ही नहीं। ब्राह्मण-कुल की कन्या और वेदपाठी की पत्नी होकर उन्होंने एक कनिष्ठ जाति का गुरु किया है – इस बात को लेकर देहू के लोगों में हलचल मच गयी। खास करके मम्बाजी गोसावी नामक ब्राह्मण ने तो इस दम्पति का जीना हराम कर दिया। बहिणाई के कष्ट की सीमा न रही, पर तुकाराम महाराज ने द्रवित होकर उसकी मदद की। उनके साधुत्व ने मम्बाजी को विन्रम कर दिया और बहिणाई ने चैन की साँस ली।

अब बहिणाई अपने गुरु के सान्निध्य में थीं। सामाजिक बन्धन के कारण श्री तुकाराम महाराज ने उसे दूर से ही मार्ग-दर्शन और बोध कराया। एक बार बहिणाई विठ्ठल मन्दिर के एक शान्त कोने में तीन दिन ध्यानस्थ बैठी रहीं। मन में एक ही आस थी – सदगुरु-कृपा से सत्य ज्ञान की प्राप्ति। उनकी सच्ची लगन और अकृत्रिम भक्ति से तुकाराम महाराज ने उसे दृष्टान्त देकर दर्शन दिये। उन्होंने अपनी इस एकलव्य जैसी शिष्या की इच्छा पूरी की। बहिणाई कहती हैं – ''मेरे सिर पर हाथ रखते ही मुझे असीम शान्ति मिली। इन्द्रियाँ अपनी वृत्ति भूलकर शान्त हो गयीं। मैंने एक चैतन्य का अनुभव किया। जैसे घट कुएँ में जाकर बिना फूटे पानी से भर जाता है, उसके अन्दर-बाहर पानी होता है, ठीक वैसे ही मैंने अपने अन्दर-बाहर उस सत्य चैतन्य का अनुभव किया। यह सब कहने में असमर्थ होकर मेरी वाणी मौन हो जाती है।''

इस दर्शन में बहिणाई को अपने गुरु से कवित्व का वर प्राप्त हुआ। इसके बाद उन्होंने अभंगों (पदों) की रचना की। आत्म -निवेदन पर अभंगों के अतिरिक्त भी उन्होंने ४०० से अधिक अभंग लिखे हैं। भक्ति, ज्ञान, कर्म – सभी विषयों पर उनकी रचनाएँ हैं। अपनी आत्मकथा में बहिणाई ने अपने १२ पूर्व जन्मों का कथन किया है, जो एक अपूर्व विस्मयकारक और अद्‌भुत घटना है। इस प्रसंग में वे लिखती हैं – ''मृत्यु का समय आने पर मुझे अपने सारे पिछले जन्म याद आ रहे हैं। जैसे आइने में अपना मुख स्पष्ट दिखाई देता है, वैसे ही मैं अपने पिछले जन्मों को देख रही हूँ।''

जिन महात्माओं ने काफी अध्यात्मिक उन्नति कर ली हो, वे दिव्य दृष्टि पाकर अन्त समय में कुछ ऐसी बातें देख पाते हैं, जो कल के अतीत होती हैं। कई महापुरुषों के अन्तकालीन वचन इस बात की पुष्टि करते हैं। बहिणाई के जीवन में जो चमत्कार घटित हुआ था, पतंजलि के योगसूत्रों में 'जाति-स्मरत्व' के नाम से उस सिद्धि का उल्लेख है। इस कारण बहिणाई को हम एक महायोगिनी भी कह सकते हैं।

* समाज-प्रबोधनात्मक अभंग *

श्री तुकाराम महाराज के बाद अपनी रचनाओं द्वारा यदि किसी ने प्रमुख रूप से समाज-प्रबोधन का काम किया हो, तो वे बहिणाई हैं। सामाजिक ऊँच-नीच के भाव पर बहिणाई ने जोरदार प्रहार किया है। वे कहती हैं – ''अछूत के छूने से यदि कोई ब्राह्मण क्रोधित होता है, तो वह ब्राह्मण नहीं है। जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान है, वहाँ वर्णभेद कहाँ?''

स्वयं ब्राह्मण बहिणाई के गुरु कनिष्ठ जाति के थे। उनकी समत्व दृष्टि का यही महान् उदाहरण है। वे तो बड़े गर्व से कहती थीं – ''मेरे गुरु तुकोबा राय आदर्श ब्राह्मण थे।'' तुकोबा राय पारमार्थिक दृष्टि से सबको समान मानते थे। यही समता बहिणाई के मन को भा गई थी। इसीलिए उन्होंने ब्राह्मण की परिभाषा स्पष्ट शब्दों में की है, जो आज भी उपयुक्त है – ''जिसे ब्रह्मज्ञान है, वही ब्राह्मण है। बाकी सब वस्तु और वस्तुओं की तरह केवल ब्रह्म बीज है।''

* बहिणाई का परमार्थ विचार *

जन्मजात वैराग्य, भक्तिपूर्ण मन तथा आत्मज्ञान – बहिणाई के पास ये साधन पहले से ही थे। फिर उन पर सदगुरु की कृपा भी हुई। आत्मबोध प्राप्त करने के बाद बहिणाई ने ईश्वर का अस्तित्व कुछ इस प्रकार समझाया है – ''जैसे दूध में अदृश्य रूप से घी का अन्तर्भाव है, गन्ने के रस में शक्कर का अन्तर्भाव है, गहना और सोना एक ही वस्तु है, धागा और वस्त्र दोनों एक हैं, लकड़ी में अदृश्य अग्नि जरूर होती है और तिल में तेल का अन्तर्भाव होता है, बहिणाई कहती है कि वैसे ही इस मानव-देह में अदृश्य रूप से भगवान का अन्तर्भाव होता है। एक वस्तु दूसरी की प्राप्ति का कारण होती है, पर ज्ञान के बिना इसे समझना कठिन है।''

माया और ब्रह्म इसका निवारण करते समय बहिणाई कहती हैं – ''ब्रह्म अकेला था। उस अवस्था में उसे अपना

अकेलापन अच्छा नहीं लगा। उसकी इस स्वयं-उत्पन्न स्फूर्ति के कारण माया का जन्म हुआ। फिर भी ब्रह्म उपाधि-रहित रहा। इसका अर्थ यह नहीं कि माया ब्रह्म से पृथक् हुई या उसका स्वतंत्र अस्तित्व है। क्योंकि श्रुतियों का कहना है कि ब्रह्म अद्वय है। जैसे धागे और वस्त्र इन दोनों को हम अलग नहीं दिखा पाएँगे, वैसे ही विवेक और ज्ञान की दृष्टि से देखें तो माया और ब्रह्म की एकता हम अवश्य समझ पाएँगे।''

आत्मा का स्वरूप स्पष्ट करते समय बहिणाई कहती हैं – ''गगन में स्थित सूर्य का प्रतिबिम्ब पानी में दिखाई देता है। इसका अर्थ यह नहीं कि सूर्य नीचे के पानी में डूब गया। ठीक वैसे ही देह में निर्लिप्त भाव से रहनेवाली आत्मा इंद्रियों के साथ समरस तो होती है, पर उनके साथ नष्ट नहीं होती।'

तात्पर्य यह है कि आत्मा, न देह है, न इन्द्रिय है, बल्कि देहान्तर्गत कार्य चलानेवाली चेतना है। इस ज्ञान की अनुभूति होने के लिये सद्गुरु की कृपा परम आवश्यक है, इस बात पर बारम्बार बल देते हुए बहिणाई कहती हैं – ''गुरुकृपा के कारण मैं इस पूरे ब्रह्माण्ड को अपने मन में रख सकती हूँ।''

यहाँ बहिणाई का प्रबल आत्मविश्वास और उसके ब्रह्मज्ञान की अनुभूति स्पष्ट होती है।

* उपदेशात्मक अभंग रचनाएँ *

बहिणाई कुटुम्बिनी और साधिका दोनों ही थीं। सभी सन्तों ने सामाजिक नियमों के पालन पर जोर दिया है। किन्तु प्रपंच और परमार्थ दोनों एक साथ निभाने वाली बहिणाई संतों की मालिका में भी अपना अलग स्थान रखती हैं। इसीलिए सर्वमान्य लोगों को जब बहिणाई उपदेश देती हैं, तब वह उपदेश अधिक प्रभावी बन जाता है। क्योंकि स्वयं बहिणाई संसारी लोगों का जीवन बिताती हैं, दु:ख-सुखों का अनुभव करती हैं और इसीलिये अधिकार के साथ कहती हैं – ''संसार और परमार्थ दोनों को समान रूप से चलानेवाली स्त्री आसमान को छू लेती है।''

वस्तुत: यह एक पंक्ति ही बहिणाई के जीवन-दर्शन का सार है। स्त्री के लिये वे कहती हैं – ''पतिव्रता स्त्री अपने पति के मतों का अनुसरण करती है और ऐसा करने से वह सहजतापूर्वक आत्मज्ञान पा जाती है।''

पृष्ठ ३१४ का शेषांश

करना चाहिये। उसका दृष्टिकोण आकाश की भाँति असीम एवं हृदय सागर की तरह गम्भीर होना चाहिये। उसमें समस्त मानवी अनुभवों को समयोजित कर विश्लेषण एवं विवेचन की अद्भुत क्षमता का विकास होना चाहिये। वास्तव में ऐसी उन्नत मन:स्थिति ही मानव जीवन की चिर अभिलषित यथार्थ 'समृद्धि' है। ❖ **(समाप्त)** ❖

स्वयं बहिणाई और उनके पति – दोनों के बीच बड़ी विसंगति – बड़ा अन्तर था। परन्तु बहिणाई ने अतुलनीय धैर्य और परम निष्ठा के साथ अपने पति का विश्वास जीत लिया। आज की सामाजिक परिस्थिति में यह निष्ठा कदाचित् स्वीकार्य नहीं होगी, पर तीन सौ वर्ष पुराने समाज में बहिणाई द्वारा दिखाया हुआ यह कर्तृत्व एक बहुत बड़ा पुरुषार्थ है।

यह श्रेष्ठ सन्त कवयित्री अपने बारह पूर्वजन्मों का निवेदन करने के दो दिन बाद यानी आश्विन प्रतिपदा, बुधवार, सन् १७०० में, शिऊर, जिला औरंगाबाद, महाराष्ट्र में समाधिस्थ हो गईं। आज भी प्रणीता के किनारे उनका समाधि-स्थान है। बहिणाई द्वारा प्राप्त आत्मज्ञान गृहस्थ जीवन बितानेवाली सभी स्त्रियों को एक आशा, एक दिलासा और एक ठोस आदर्श उपलब्ध करा देता है। व्रजसूची उपनिषदका अध्ययन करने वाली बहिणाई ज्ञान-लालसा देती हैं, प्रयत्नवाद सिखाती हैं। उनका कवित्व मन को मोह लेता है। बहिणाई के कई रूप, कई प्रतिमाएँ आँखों के सामने खड़ी हो जाती हैं –

पति का विरोध तथा छल, अविचल भाव से सहनेवाली निश्चयी साधिका – पति को सर्वस्व मानकर उसी पर निष्ठा रखनेवाली पतिव्रता – विवाहित जीवन में अन्ध-शरणागति की जगह विचारपूर्वक समझौता करनेवाली समझदार मगर सबल पत्नी – पुत्र की अध्यात्मज्ञान से पहचान करानेवाली वात्सलमयी माता – गुरुचरणों की शरण लेनेवाली तथा उनकी कृपा प्राप्त समर्थ शिष्या – सौंदर्य, रसात्मकता, अर्थ-गर्भता से युक्त काव्य की रचना करनेवाली कवयित्री – अपनी योगिक सामर्थ्य से पूर्वजन्मों और वर्तमान जन्म का रहस्य सरल शब्दों में प्रकट करनेवाली महायोगिनी। ❑❑❑

नर्तकी का वह भजन (२)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला में प्रस्तुत है – विविध स्रोतों से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों से संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। – सं.)

बैकुण्ठनाथ सान्याल का विवरण

बैकुण्ठनाथ सान्याल श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य तथा स्वामीजी के घनिष्ठ मित्र तथा गुरुभाई थे। इस घटना को उन्होंने जैसा सुना था, तदनुसार वे बताते हैं कि राजा ने स्वामीजी को भजन सुनवाने के लिये **दो प्रसिद्ध गायिकाओं** को बुलवाया था। सान्याल महाशय ने उनके गाये हुए सूरदासजी के ही दो पदों का भी उल्लेख किया है –

(१) प्रभुजी ! अवगुण चित न धरो।
समरदरशी तु ही है ।।
एक लोहे मूरति पूजावे,
और घर बधि करे ।
परश की मन में द्विधा नहीं है
दुहु सोना करे ।

अर्थ – हे समदर्शी प्रभो ! मेरे दोष पर ध्यान मत देना। लोहे का एक टुकड़ा विग्रह-मूर्ति धारण करके पूजित हो रहा है और दूसरा टुकड़ा अस्त्र के रूप में कसाई के हाथों हत्या के कार्य में लगा है। पारस मणि के मन में कोई द्विधा नहीं है, वह स्पर्श मात्र से ही दोनों को स्वर्ण में बदल देता है।

(२) दयानिधे ! तोरि गति लखि न पड़े ।
पिता को वचन जो टारे सो पापी,
वही पाप प्रह्लाद करे ।
ताके लिए स्फटिक खम्बा से
नरसिंह रूप प्रकट करे ।

अर्थ – हे दयानिधे ! तुम्हारा भाव समझना कठिन है। पितृआज्ञा का उल्लंघन करना पाप है, परन्तु प्रह्लाद ने वही किया ! तो भी उसके लिए तुमने स्फटिक के खम्भे से स्वयं को नृसिंह के रूप में प्रकट किया।

"जोंक के मुख पर नमक पड़ने पर जैसा होता है, नरेन्द्रनाथ बताते थे कि उन्हें ठीक वैसा ही महसूस हुआ था। कहते थे – जीवन में यह पहला पराभव था।"[१]

सान्याल महाशय के विवरण में उल्लेखित दो गायिकाओं की बात किसी अन्य सूत्र से सत्यापित होने पर ही स्वीकार्य है, पर प्रमुख गायिका द्वारा दो भजन गाये जाने का सत्यापन अन्य सूत्रों से भी हो जाता है। यहाँ स्मरणीय है कि दोनों ही भजनों के भाव में साम्य है और दोनों एक ही सन्देश देते हैं।

स्वामीजी की नोटबुक का साक्ष्य

स्वामीजी के अपने ही हाथों से लिखा हुआ एक नोटबुक इस घटना का महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है। भारत-भ्रमण के दौरान स्वामीजी की पास एक नोटबुक था, जिसमें उन्होंने १८८६ ई. से ही अनेक भजन, उनकी स्वरलिपियाँ, रागों आदि के स्वर-विस्तार तथा मृदंग के बोल आदि लिख रखे थे। यह नोटबुक स्वामीजी के साथ पूरे उत्तर भारत, दिल्ली, राजपुताना, गुजरात, महाराष्ट्र, गोवा, कर्नाटक, केरल आदि भ्रमण के दौरान उनकी संगिनी थी। कहीं कोई अच्छा भजन या संगीत के स्वर मिल जाने से स्वामीजी उसमें लिपिबद्ध कर लेते या कभी यथेच्छा उसमें से कुछ गाते भी रहे होंगे। भ्रमण करते हुए स्वामीजी १८९३ ई. में मद्रास पहुँचे और वहाँ श्री मन्मथनाथ भट्टाचार्य के घर कई महीने निवास किया। उस समय उनकी छोटी-सी पुत्री (आयु ९-१० रही होगी) उनसे संगीत सीखा करती थी और जब स्वामीजी मुंशी जगमोहनलाल के साथ मद्रास से खेतड़ी के लिए रवाना हुए, तो वह नोटबुक उस बालिका के पास ही रह गया। अर्थात् **द्वितीय खेतड़ी-प्रवास के समय वह नोटबुक स्वामीजी के पास नहीं था।** उस नोटबुक के पृष्ठ २६-२७ पर स्वामीजी के ही हस्तलेख में सूरदास के उपरोक्त दो भजन लिपिबद्ध हैं।[२]

हमारा विश्वास है कि जिस दिन वह घटना हुई, उसी दिन या अगले दिन स्वामीजी ने अपनी स्मृति से वे भजन अपने नोटबुक में लिख लिया था। उनके द्वारा बँगला लिपि में लिपिबद्ध भजन का देवनागरी रूपान्तरण इस प्रकार है –

प्रभु मेरे अगुने चित न धरो

१. श्रीश्रीरामकृष्ण-लीलामृत (बँगला), द्वितीय सं., कलकत्ता, पृ. २९४

२. इस नोटबुक की फोटो-कॉपी बँगला मासिक 'उद्बोधन' के निम्नलिखित अंकों में प्रकाशित हुई है – वर्ष ७७ के अंक ९, वर्ष ७८ के अंक १, ९, ११, वर्ष ७९ के अंक १ में। अन्तिम अंक के पृ. १८, २२-२३ पर दोनों पद उद्धृत हैं। रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर से २००० ई. में प्रकाशित 'संगीत-कल्पतरु' ग्रन्थ के उत्तरार्ध के परिशिष्ट (पृ. ३२९-३७५) के रूप में इस पूरी सामग्री का पुनर्मुद्रण हुआ है।

समदर्शि नाम तुँहारो एकइ ब्रह्म करो
एक लोहा पूजामें रहत है एक घर वधिक पर्यो
पारश को मने – द्विधा नहि काञ्चन करे सो खर्यो
एक नदी एक नालो कहाये – मयलो – नीर भरो
जाय मिले गङ्गाजल माहि – एकइ रूप धरो ।[3]

(ए) दयानिधे तोरि गति लखि न परे
धर्म अधर्म, अधर्म धर्म करि, अकरण करण करै ।
जय अरु विजय पाप कहकि-नो,
ब्रा-ह्मण शा-प दिया-यो
असुर योनि – दिनी – ता ऊपर
धर्म उच्छेद – करा – यो – ।।
पि-ता वचन खण्डे-त पापी –
सो प्रह्ला-द कि-नो
तिन्के-हे-त् स्तम्भते प्रकटे
नरहरि रू-प जो नीन ।। (लीनो ?)
द्विजकुल पतित अजा-मिल विषयी
गणिका-प्रीत बड़ा-इ
यज्ञ करत विरो-चनके सुत
वेद विहित विधि-करम
तिहि हट बाँधि पाता-ल हि दीनो
को-न कृपा-निधि धरम
पतिव्रता-जा-लन्धर युवती
प्रकट सत्यते टारो –
अधम पुंश्चली दुष्ट ग्रामकी
शुगा परावत तायरो – ।
दानी धरम भानुसुत सुनियत
तुमि तो विमुख कहावे
वेद-विरुद्ध सकल पाण्डवसुत
तो तोम्रे जीउ भावे –
मुक्ति हे-तु जोगी बहु श्रम करे
असुर विरोधे पावे
अकणित कणित तो मा री महिमा
सुरदा-स कैसे कह गावे ।।[4]

स्वामीजी की स्मृतियों में

स्वामीजी के जीवन पर इस घटना का ऐसा अमिट प्रभाव हुआ था कि उन्होंने नर्तकी से सुने हुए सूरदास जी के भजनों अपनी नोटबुक में लिख लिया था और वे परवर्ती काल में प्राय: इस घटना का स्मरण करते तथा उन भजनों को गाते।

राजस्थान के बाद स्वामीजी गुजरात गये। वहाँ वे विभिन्न स्थानों पर वही भजन गाया करते थे। स्वामी अखण्डानन्द जी लिखते हैं – ''स्वामीजी जब जूनागढ़ में थे, तब (झण्डू) भटजी के साथ उनका परिचय हुआ था। वहीं स्वामीजी के मुख से – 'दयानिधे तेरी गति लखि ना परे' – यह भजन सुनकर भटजी रो पड़े थे।''[5] (जामनगर में शंकर सेठ) ... ने मुझे प्रतिदिन भजन सुनाने के लिये मूलजी नाम के एक ब्राह्मण गायक को रखा था, जो स्वामी विवेकानन्द जी के परिचित थे। काठियावाड़-भ्रमण करते समय जब स्वामीजी एक सम्पन्न ग्राम में ठहरे थे, तो वे उनके मुख से भक्तकवि सूरदास जी का – 'दयानिधे तेरी गति लखि ना परे', 'प्रभु मेरो अवगुन चित न धरो' – आदि भजन और विशेषकर प्रात:काल 'शशधर तिलक भाल गंगा जटा पर' भजन सुनना पसन्द करते थे।''[6]

लगभग एक वर्ष बाद १८९३ ई. के प्रारम्भ में भी हम देखते हैं कि मद्रास में वे मन्मथनाथ भट्टाचार्य के बँगले में वही भजन गा रहे हैं। डॉ. एम. सी. नंजुन्दा राव अपनी स्मृति-कथा में लिखते हैं – ''रात का समय था। सागर तट पर स्थित श्री भट्टाचार्य के बँगले में मधुर चाँदनी फैली हुई थी। स्वामीजी उस समय अपनी सर्वश्रेष्ठ मन:स्थिति में थे। उनका चेहरा ऐसा दमक रहा था मानो उनके मुखमण्डल से ज्योति-रश्मियाँ निकलकर उनके चारों ओर आभा-मण्डल की सृष्टि कर रही थीं। कुछ समय पूर्व ही वे वह हृदय-स्पर्शी भजन गा रहे थे – **'तेरी गति लखि न पड़े'**, जिसका उन्होंने स्वयं ही मुक्त अनुवाद किया था – 'हे प्रभो, आपके कार्य हमारी समझ के परे हैं।' वह महान् भजन जगदम्बा की इच्छा

---

३. 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' (खण्ड १, सं. २, पृ. ७२) में इस भजन का जो रूप मिलता है, वह इस प्रकार है – (राग – खम्भावती, तिताला) – हमारे प्रभु अवगुण चित न धरो। समदरशी है नाम तुम्हारो सोई पार करौ। इक लोहा पूजामें राखत इक घर बधिक परौ।। से दुविधा पारस नहिं जानत कांचन करत खरौ।। इक नदिया इक नार कहावत मैलो नीर भरौ। जब मिलि गये तब एक बरण ह्वै गंगा नाम परौ। तम माया ज्यो ब्रह्म कहावत सूर सु मिलि बिगरौ। कै इनको निरधार कीजिये कै प्रण जात् तरौ।।

४. 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' (खण्ड १, सं. २, पृ. ३३-३४) में इस भजन का जो रूप मिलता है, वह इस प्रकार है – (राग – गौरी) – दयानिधे तेरी गति लखि न परे। धर्म अधर्म, अधर्म धर्म करि, अकरण करण करै।। जय अरु विजय कर्म कह किन्हौ ब्रह्म सराप दिवायो।। असुर योनि ता उपर दीन्ही धर्म-उच्छेद करायो।। पिता वचन खण्डै सो पापी सो इ प्रह्लादहिं किन्हौ।। निकषे खण्भ बीचतें नरहरि ता हि अभय पद दीन्हौ।। दानधर्म बहु कियो भानुसुत सो तुव विमुख कहायौ।। वेदविरुद्ध सकल पाण्डवकुल सो तुम्हरे मन भायौ।। यज्ञ करत वैरोचन को सुत वेदविहित विधिकर्मा।। सो छलि बाँधि पाताल पठायौ कौन कृपानिधि धर्मा।। द्विजकुल पतित अजामिल विषयी गणिका हाथ बिकायौ।। सुतहित नाम लियो नारायण सो पतिव्रत तैं टारी।। दुष्ट पुंश्चली अधम सो गणिका सुवा परावत तारी।। मुक्तिहेतु योगी श्रम साधे असुर विरोधे पावै।। अविगत गति करुणामय तेरी सूर कहा कहि गावै।।

५. 'स्मृतिकथा' (बँगला) तृतीय सं., पृ. ९६ **६**. वही, पृ. ९२

के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण तथा शरणागति का द्योतक था। गद्गद भाव से उन्होंने इस भजन के एक-एक वाक्य का अनुवाद किया और उस संध्या को एकत्र होनेवाली पूरी टोली उनका गाना समाप्त होने तक मंत्रमुग्ध हो सुनती रही।''[७]

फिर घटना के लगभग ७ वर्ष बाद १८९८ ई. के १४ से १६ मई तक जब स्वामीजी अपने विदेशी शिष्यों के साथ नैनीताल में खेतड़ी-नरेश अजीतसिंह के अतिथि हुए थे, तब भी नर्तकी का प्रसंग उठा था। भगिनी निवेदिता ने लिखा है – ''तीन घटनाओं ने हमारे नैनीताल-प्रवास को आनन्दमय बना दिया था – स्वामीजी द्वारा परम आह्लादपूर्वक **खेतड़ी के राजा के साथ हमारा परिचय कराना**, दो नर्तकी महिलाओं द्वारा हमसे पता पूछकर स्वामीजी से मिलने जाना, अन्य लोगों के विरोध के बावजूद स्वामीजी द्वारा उनका सप्रेम स्वागत... । यदि मैं भूल नहीं करती हूँ, तो नैनीताल की इन्हीं नर्तकियों के सन्दर्भ में उन्होंने हमें पहली बार खेतड़ी की नर्तकीवाली घटना सुनायी थी, जो बाद में हमें अनेकों बार सुनने को मिली थी । वे उसका नृत्य देखने का आमंत्रण पाकर पहले तो नाराज हुए थे, पर काफी अनुरोध के बाद वहाँ उनकी सभा में जाने पर नर्तकी ने गाया था – **प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो। ...** और तब, स्वामीजी ने स्वयं बताया कि इसके साथ ही उनकी आँखों के सामने से मानो एक परदा-सा उठ गया, उन्होंने देखा कि सचमुच ही सब एक हैं और तब से उन्होंने किसी की भी निन्दा करनी छोड़ दी।''[८]

स्वामीजी की अमेरिकी शिष्या आइडा आन्सेल ने लिखा है – ''एडिथ (विरजा) का स्वर सुन्दर कोंट्राल्टो था। कभी-कभी वह गहन भाव के साथ स्वामीजी से सम्बन्धित कुछ गीत गाती थी। पहली बार अमेरिका आने के पूर्व जब वे एक राजा के महल में ठहरे थे, तो वहाँ एक गणिका द्वारा गाये हुए भजन का स्वयं स्वामीजी द्वारा किये हुए अनुवाद के आधार पर बनाया हुआ एक गीत गाना उसे बड़ा प्रिय था।''[९]

नर्तकी का नाम – मैनाबाई

मुम्बई से प्रकाशित साप्ताहिक 'धर्मयुग' के १८ जनवरी, १९८७ अंक (पृ. ३८-४१) में डॉ. त्रिलोकीनाथ व्रजबाल ने लिखा है – ''खेतड़ी में ही स्वामीजी को अद्वैत ज्ञानसिद्धि की आनुष्ठानिक पूर्णता मिली थी और यहीं उन्हें सर्वभूतों में एक दिव्य आत्मा के दर्शन हुए थे, यह सब सुनकर मुझे विशेष विस्मय तब हुआ, जब मुझे बताया गया कि स्वामीजी की इन उपलब्धियों के मूल में एक गायिका मैनाबाई थीं। मैनाबाई प्रसंग की सत्यता जानने के लिये जब मैंने तथ्यों का संग्रह, विश्लेषण और शोध किया, तो मुझे यह प्रसंग सत्य ही मालूम हुआ। ... नाम की पुष्टि मुझे बाद में खेतड़ी के मूल निवासी कुछ सज्जनों के कथनों तथा चिड़ावा (राजस्थान) से १९७५ में प्रकाशित एवं कविवर परमेश्वर द्विरेफ द्वारा संपादित 'शेखावाटी स्मारिका' के पृष्ठ १३ पर प्रकाशित वेणीशंकर शर्मा के लेख से हो सकी। खेतड़ी के वयोवृद्ध राजपुरोहित रामस्वरूप पारीख ने भी खेतड़ी की कई प्राचीन गणिकाओं के बारे में बताते हुए मैनाबाई का उल्लेख किया। ... मैंने काफी प्रयत्न किया कि कहीं से उस कला-निपुणा गायिका मैनाबाई का चित्र मुझे मिल जाये, किन्तु सफलता नहीं मिली। मैनाबाई सौन्दर्य, कला, भावना एवं संयम से परिपूर्ण वाक्चतुर, हँसमुख और व्यवहार-कुशल गायिका थीं। राजा अजीतसिंह उनकी कला और व्यवहार से पूर्ण प्रसन्न एवं सन्तुष्ट थे। अत: वे उनकी विशेष कृपापात्र थीं।''[१०]

पं. वेणी शंकर शर्मा का एक लेख 'राजस्थान में रामकृष्ण मिशन – खेतड़ी केन्द्र' शीर्षक के साथ कोलकाता के दैनिक 'विश्वमित्र' के १७ जनवरी, १९६३ के अंक में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में शर्माजी ने बताया है कि राजा को भजन सुनाने के लिये नर्तकियों का एक दल उपस्थित हुआ था, उस दल की नेत्री का नाम मैनाबाई था। और उन्होंने खेतड़ी जाकर पूछताछ की तो पता चला कि 'उक्त भाग्यशालिनी नर्तकी का नाम मैनाबाई था।'[११]

डॉ. धन्नाराम राजपुरोहित ने खेतड़ी-विषयक अपने संस्मरणों में लिखा है – ''मैं एक अवकाश-प्राप्त डॉक्टर हूँ। राजस्थान के अनेक भागों में कार्यरत रहा। इसी सिलसिले में मेरा पद-स्थापन सन् १९६० (जनवरी) में पंचायत समिति बुहाना में खेतड़ी उपखण्ड, जिला झूँझनू में पशु-पालन-प्रसार अधिकारी के पद पर हुआ था और वहाँ का कार्यभार सँभालने के बाद मेरा समय-समय पर खेतड़ी जाना-आना होता रहता था। ... मेरे खेतड़ी उपखण्ड प्रवास के दौरान डॉ. द्वारकानाथजी मेडिकल ऑफीसर सिंघाना एवं लक्ष्मण आर्य, जो उस समय एल.आई.सी. बीमा विभाग में कर्मचारी थे। मेरा उनसे सम्पर्क हुआ और उत्तरोत्तर बढ़ता गया।... दोनों ही शास्त्रीय संगीतज्ञ थे। ... मेरी इच्छा हुई कि खेतड़ी में डॉ. द्वारकानाथजी शर्मा व अन्य वयोवृद्धों से पूछकर यह पता लगाऊँ कि स्वामी विवेकानन्द महाराज को जिसने 'अवगुन चित न धरो' भजन सुनाया था, वह अभी मौजूद हो, तो उसके दर्शन कर लूँ। पूछताछ करने पर पता लगा कि वह अभी सशरीर है।

७. Vedanta Kesari, Vol 1, No 6, October 1914, Pp. 186-87

८. स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण, कोलकाता, २००१, पृ. १९

९. Reminiscences of Swami Vivekananda, 1994, Pp. 376

१०. 'धर्मयुग' मुम्बई, वर्ष १९८७, अंक १८ जनवरी, पृ. ३८-४१

११. 'महाप्राण' पाक्षिक, चिड़ावा, राज., वर्ष ३, अंक १, मई (प्रथम) १९६३, पृ. ९ (जसरापुर-निवासी श्री श्यामसुन्दर शर्मा से प्राप्त)

''एक दिन छुट्टी का अवसर देखकर मैं डॉ. द्वारकानाथजी को लेकर खेतड़ी गया और वहाँ से लक्ष्मण आर्य, एल.आई.सी. वालों को साथ लेकर हम उस गायिका के घर गये और उसको प्रणाम कर आशीर्वाद प्राप्त किया। उसने हमारी प्रार्थना पर ध्रुपद में श्रीकृष्ण का भजन सुनाया। पहले तो उन्होंने कहा – बेटा, बूढ़ी हो गई हूँ, परन्तु आपको चार पंक्तियाँ सुनाने का प्रयास करती हूँ, क्योंकि मेरी उमर ९० वर्ष हो गई है। इस प्रकार हम उसकी वाणी व आशीर्वाद प्राप्त कर कृतार्थ हुए। उस पूज्य गायिका का नाम मैनाबाई था और उनकी एक बहन और थी। वह उनसे काफी छोटी थी, उसका नाम जानकीबाई था। वह गत वर्ष तक जीवित थी। सम्भवत: अब तक भी जीवित हो।''

''स्वामी विवेकानन्दजी की जीवनियों में उस घटना का वर्णन अलग-अलग लेखकों द्वारा भिन्न-भिन्न बातों को लेकर वर्णन किया गया है, जो अतिरंजित व मनगढंत हैं। स्वामीजी को राजकुमार खेतड़ी के जन्मोत्सव पर मुंशी जगमोहन लालजी दीवान द्वारा स्व. महाराजा अजीत सिंह के निमंत्रण पर मद्रास से सन् १८९३ में लाया गया था। अत: श्रीमती मैनाबाई से इस घटना की वस्तुस्थिति यानि सत्य क्या था, जानने की उत्कट इच्छा प्रकट की और उसे कृपा कर बताने हेतु प्रार्थना की।

''तब मैनाबाई ने बताया कि महफिल शुरू होने के समय स्वामी विवेकानन्द महाराज को बुलाया गया, तो स्वामीजी महाराज ने आने से इस आशय के साथ मना कर दिया था कि हम साधु-संन्यासी हैं, राग-रंग व गाने वगैरह की महफिलों में हमारा जाना उचित नहीं है। ...

''महाराजा अजीतसिंह ... की इच्छा थी कि (जब तक) स्वामीजी महाराज नहीं पधारेंगे, तब तक उत्सव शुरू नहीं होगा। अत: मुंशी जगमोहन लालजी को अनुनय-विनय से प्रार्थना कर १० मिनट के लिये दरबार हॉल में, जहाँ उत्सव का आयोजन हो रहा था, लाने के लिये भेजा।

''इस दौरान मेरे मन में ऐसा लगा कि मैं एक नाचनेवाली हूँ, शायद स्वामीजी महाराज मेरे कारण आना नहीं चाह रहे हैं। लेकिन हमारा तो यही पेशा था और मात्र उदरपूरणा का साधन था। परन्तु परमात्मा ने मुझे प्रेरणा दी कि मैं स्वामीजी को भजन सुनाऊँ। उस समय मुझे सूरदास का 'अवगुन चित न धरो' भजन गाने की प्रेरणा मिली।

''मुंशी जगमोहन लालजी की प्रार्थना पर स्वामीजी महाराज उत्सव-स्थल पर पधारे तथा उनके सूर्य के समान तेजोमय दर्शन कर मैं कृतार्थ हो गई। मैंने स्वामीजी महाराज के सामने श्री सूरदासजी का भजन ''प्रभु मेरे अवगुन चित न धरो'' बहुत ही भावपूर्ण स्वर में सुनाया। स्वामीजी महाराज ने बड़े आनन्द से भजन सुना और मेरे नजदीक आकर मुझे आशीर्वाद दिया। मैं बड़ी आनन्दित हुई और मेरा जीवन ही स्वामीजी महाराज की कृपा से धन्य हो गया था, जो मुझे आज तक आनन्द दे रहा है। इसके बाद महाराजजी उत्सव-स्थल से पधार गये और उत्सव चलता रहा। यही सत्य है।''[१२]

धन्नारामजी की मैनाबाई से यह भेंट सम्भवत: १९६१ ई. में हुई थी। उस समय यदि वे ९० वर्ष की थीं, तो उक्त १८९१ ई. में उस घटना के समय लगभग २१ वर्ष की रही होंगी। धन्नारामजी ने जो लिखा है कि यह घटना १८९३ ई. में हुई थी, वह ठीक नहीं है, क्योंकि हम तीन प्राचीनतम विवरणों का वर्णन करके दिखा चुके हैं कि यह घटना स्वामीजी के प्रथम खेतड़ी-प्रवास के दौरान ही हुई थी।

घटना के स्थान-काल के विषय में भ्रान्ति

इस घटना को '१८९३ ई. में अथवा जयपुर में हुआ' निरूपित करने की परम्परा न जाने कब से आरम्भ हुई। लगता है सर्वप्रथम सत्येन्द्रनाथ मजुमदार के 'विवेकानन्द चरित' से ही यह परम्परा आरम्भ हुई। उन्होंने लिखा है – ''अमेरिका की यात्रा से पूर्व स्वामीजी खेतड़ी से जयपुर आये थे। गुरुदेव को विदा करने के लिए खेतड़ी के महाराजा स्वयं जयपुर तक आये थे। एक दिन संध्या समय बैठक के अवसर पर महाराजा ने एक नर्तकी को बुलाया।''[१३]

बँगला मासिक 'उद्बोधन' के विवेकानन्द-शताब्दी विशेषांक में प्रख्यात लेखिका श्रीमती ज्योतिर्मयी देवी ने लिखा है – ''वह १८९० या १८९३ का वर्ष था। वे दण्ड-कमण्डलुधारी नग्नपद गैरिक-वस्त्रावृत – उन दिनों अज्ञात, बाद में विश्वविख्यात अपूर्वदर्शन तेजस्वी संन्यासी कब और किस मार्ग से जयपुर आये थे? उस समय वे किसी धर्मशाले में या फिर खेतड़ी-राजा के जयपुर-महल में रहे? उसी समय महाराजा ने स्वामीजी को उस काल की किसी विख्यात गायिका का गीत सुनने को बुलवाया और स्वामीजी ने बाईजी का गीत सुनने में अनिच्छा व्यक्त की। बाद में महाराजा के आग्रह पर थोड़ी देर बैठे। उनका द्विधा-भाव देखकर गायिका थोड़ी क्षुब्ध हो गयी थी। तथापि उन्होंने कवि सूरदास का एक विख्यात भजन गाया – प्रभु मेरे अवगुण चित न धरो। ... किसी-किसी पुस्तक में देखती हूँ कि यह भजन उन्होंने खेतड़ी-राजा के जयपुर-भवन में ही सुना था।''[१४]

स्वामी गम्भीरानन्द जी ने भी अपने 'युगनायक विवेकानन्द'

---

१२. मेरे खेतड़ी के संस्मरण, डॉ. धन्नाराम राजपुरोहित, स्वर्ण-जयन्ती स्मारिका, श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर, १९९९, पृ. १५-१८ (स्वामी अकामानन्द जी के सौजन्य से प्राप्त)

१३. विवेकानन्द-चरित, सत्येन्द्रनाथ मजुमदार, नया सं. पृ. १८३-४

१४. स्मृतिर आलोय स्वामीजी (बँगला), उद्बोधन, १९९०, पृ. ३०१

ग्रन्थ में इस घटना का स्वामीजी के द्वितीय खेतड़ी-प्रवास अर्थात् १८९३ की घटनाओं के साथ ही वर्णन किया है। वहाँ उन्होंने पाद-टिप्पणी में लिखा है – "इस घटना के स्थान-काल-वृत्तान्त आदि के सम्बन्ध में मतभेद हैं। बंगला-जीवनी[१५] के अनुसार इस घटना का स्थान खेतड़ी (१८९१) है; तथापि पाद-टिप्पणी में ग्रन्थकार ने लिखा है, "यह घटना सम्भवत: खेतड़ी-राजा के जयपुर-भवन में घटी थी।"[१६] अन्यत्र उन्होंने ज्योतिर्मयी देवी के लेख 'जयपुरे स्वामी विवेकानन्द' के आधार पर इसे जयपुर में हुआ माना है।[१७]

परन्तु ज्योतिर्मयी देवी का उक्त लेख पढ़कर ज्ञात होता है कि उन्होंने प्रामाणिक ग्रन्थों का आधार लेने की जगह अपने परिवार में इधर-उधर सुनी हुई बातों के आधार पर ही अपना लेख लिखा है, अत: वह आंशिक रूप से ही ग्रहणीय है।

उपरोक्त विश्लेषण से निष्कर्ष

(१) यह घटना खेतड़ी में ही और १८९१ में हुई थी।

(२) नर्तकियाँ शायद कई थीं, परन्तु उनमें से प्रमुख का नाम मैनाबाई था और भजन उसी ने गाया।

(३) मैनाबाई ने एक नहीं, बल्कि दो भजन गाये थे।

(४) स्थान – हम पहले स्वामीजी के खेतड़ी-पदार्पण के प्रसंग में कह आये हैं कि राजा अजीतसिंह प्रतिदिन संध्या को दीवानखाने की छत पर बैठकर जनता से मिलते थे और कुछ भजन आदि भी सुना करते थे (देखिये २००५ के दिसम्बर अंक, पृ. ५९०), अत: खेतड़ी आने के प्रथम सप्ताह में यदि घटी हो, वहीं होने की सम्भावना है।[१८]

अथवा कुछ दिनों बाद जब राजा अजितसिंह पन्ना तालाब के किनारे स्थित महल में रहने चले गये, उस समय हुई हो, तो तालाब के किनारे रघुनाथजी के मन्दिर की ओर स्थित बरामदे में या आसपास स्थि किसी उद्यान में हुई होगी।

उपसंहार

इस घटना को पढ़कर किसी-किसी के मन में ऐसा प्रश्न या यह शंका उठ सकती है – "स्वामीजी का नर्तकी का गीत सुनने से इनकार करना क्या सचमुच ही अनुचित था?" या फिर दूसरे शब्दों में – "क्या उनके लिये नर्तकी का गीत सुनना उचित था?" अत: थोड़ी विवेचना आवश्यक है।

नर्तकी का भजन सुनने के पूर्व का मनोभाव और बाद का मनोभाव – संन्यास के दो भिन्न-भिन्न आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते हैं। संन्यास के दो आदर्श होते हैं – एक विविदिषा-मूलक और दूसरा ज्ञानमूलक – विद्वत् संन्यास। अर्थात् एक साधक का और दूसरा सिद्ध का। विविदिषा या साधक की अवस्था में संन्यासी के लिये नर्तकी, गणिका या गायिका का गीत सुनना पूर्णत: निषिद्ध तथा वर्जित है; और सिद्ध अवस्था प्राप्त होने के बाद संन्यासी – पुरुष-नारी, पापी-पुण्यात्मा आदि का भाव विस्मृत करके सबके भीतर एक ही ब्रह्म – अपनी ही अन्तरात्मा का अवलोकन करता हुआ सबके प्रति समभाव से आचरण करता है – **समता सर्वभूतेषु एतन्मुक्तस्य लक्षणम्।** यह घटना इस बात का द्योतक है कि स्वामीजी उन दिनों संन्यास की सर्वोच्च परमहंस अवस्था की ओर संक्रमण कर रहे थे। अत: स्वामीजी द्वारा नर्तकी का भजन सुनने से मना करना भी संन्यास के उच्च आदर्श का द्योतक है और बाद में उसमें ब्रह्म की अभिव्यक्ति देखते हुए उसका भजन सुनना उससे भी उच्चतर आदर्श का द्योतक है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इस घटना के माध्यम से स्वामीजी ने संन्यास के एक उच्च आदर्श से दूसरे उच्चतर आदर्श में संक्रमण किया। परवर्ती काल में एक बार उन्होंने अपने एक अमेरिकी मित्र फ्रांसिस लेगेट को (६ जुलाई, १८९६) के पत्र में लिखा था – "मेरा ख्याल है कि मैं धीरे-धीरे उस अवस्था की ओर बढ़ रहा हूँ, जहाँ खुद शैतान को भी – यदि वह हो तो – मैं प्यार कर सकूँगा। बीस वर्ष की अवस्था में मैं ऐसा असहिष्णु और कट्टर था कि किसी से सहानुभूति नहीं कर सकता था। कलकत्ते में रास्तों के जिस किनारे पर थिएटर हैं, उस किनारे से ही नहीं चलता था। अब तैंतीस वर्ष की उम्र में मैं वेश्याओं के साथ एक ही मकान में ठहर सकता हूँ – उनसे तिरस्कार का एक शब्द कहने का विचार भी मेरे मन में नहीं आयेगा। क्या यह अधोगति है? या फिर मेरा हृदय बढ़ता हुआ मुझे उस अनन्त प्रेम की ओर ले जा रहा है जो साक्षात् ईश्वर-स्वरूप है? ... कभी-कभी मुझे एक प्रकार का भावावेश होता है। मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं जगत् के सभी प्राणियों और वस्तुओं को आशीर्वाद दूँ – सभी वस्तुओं से प्रेम करूँ और गले लगा लूँ। और मैं यह भी देखता हूँ कि पाप एक भ्रान्ति मात्र है। ... किसकी तारीफ करूँ, किसे बुरा कहूँ – सब तो उसी का खेल है।"

❖ (क्रमश:) ❖

१५. स्वामी विवेकानन्द, प्रमथनाथ वसु, भाग १, १९९४, पृ. १९७

१६. युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, सं. १९९८, पृ. ३५४-५५

१७. नव-युगधर्म, स्वामी गम्भीरानन्द, पृ. १५४-१६४

१८. कानपुर आइ.आइ.टी. के प्रो. अरुणकुमार विश्वास का मत है कि घटना ९ अगस्त १८९१ को दीवानखाने की छत पर हुई थी। द्र. – A Pilgrimage to Khetri & The Sarswati Valley, 1987, P. 31

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(४६) प्रेम-भक्ति से प्रगट होहिं भगवाना

केरल के प्रसिद्ध संत गोपालन् भगवान श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। वे सदैव उनकी आराधना में लीन रहते थे। उनके मित्र इसे 'अन्धभक्ति' और 'पागलपन' कहकर उनकी हँसी उड़ाते थे। वे जब-तब उन पर व्यंग्य कसते रहते थे। गोपालन् उनकी बातों पर कोई ध्यान नहीं देते थे।

एक दिन उनके घर में कोई धार्मिक कृत्य था, इसलिए उन्होंने अपने मित्रों को भोजन के लिए अपने घर आमंत्रित किया। भोजन प्रारम्भ होने से पहले एक मित्र को उनसे मजाक करने सूझी। वह उनसे बोला – ''हम लोग तो तुम्हारे निमंत्रण पर भोजन के लिए आ गये हैं, परन्तु तुम्हारे इष्टदेव तो कहीं दिखाई नहीं देते। जब तक वे हमारी पंगत में सम्मिलित नहीं होते, मैं तो भोजन नहीं करूँगा।'' दूसरे मित्रों ने भी उसका साथ दिया और वे भी बोले – ''हाँ, तुम्हारे भगवान के आये बिना हम भी भोजन नहीं करेंगे।'' गोपालन् ने उन्हें समझाने का बहुत प्रयास किया, मगर वे न माने। तब उन्होंने कहा – ''वे आयेंगे भी तो तुम लोगों के साथ भोजन करेंगे नहीं। हाँ, पूजा-गृह में अवश्य कर सकते हैं। मैं उनके भोजन की थाली वहीं रख देता हूँ।'' यह कहकर उन्होंने एक थाली में भोजन परोसकर पूजा-गृह में रख दी।

मित्र तो उनका मजाक उड़ा रहे थे। उन्हें तो भोजन करना ही था, इसलिए उन्होंने यह बात मंजूर कर ली। वे भोजन का एक कौर मुँह में डालने ही वाले थे कि अचानक शंख-ध्वनि सुनाई दी। इसे सुनकर सब आश्चर्य करने लगे कि शंख बजा कौन रहा है। गोपालन् ने हर कमरे में जाकर देखा, मगर शंख बजाने वाला कोई दिखाई नहीं दिया। इसे चमत्कार मानकर उन्होंने भोजन किया। भोजनोपरान्त जब गोपालन् मित्र के साथ पूजा-गृह में गये, तो उन्हें दूसरा चमत्कार दिखाई दिया और वह यह कि भोजन के पदार्थ वहाँ मौजूद नहीं थे, मानो किसी ने यहाँ भोजन किया हो।

मित्रों को इस बात की प्रतीति हो गई कि भगवान के प्रति श्रद्धा, दीनता, पूर्ण विश्वास, और नित्य नया प्रेम उत्पन्न होने का दूसरा नाम ही भक्ति है। जो भक्त अपने इष्टदेव को अपना समझता है, उन पर दृढ़ विश्वास करता है, अपनी आस्था में कोई विकल्प आने नहीं देता, अपने को पूर्णतया उनके प्रति समर्पित करके उन पर भरोसा करता है भगवान उससे विमुख नहीं हो सकते। भगवद्भक्ति आडम्बर नहीं, बल्कि उनके प्रति प्रेम-प्रदर्शन है। सच है, जिस प्रकार वृक्ष की जड़ को सींचने से उसकी शाखाएँ और पत्ते तृप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार भगवान भी अपने प्रिय भक्त की निरपेक्ष भक्ति से सन्तुष्ट होकर उसकी इच्छापूर्ति अवश्य करते हैं।

(४७) सन्त सरलचित जगत् में

सन्त तिरुवल्लुवर की साड़ियों की दुकान थी। दुकान में ग्राहकों की जब भीड़ नहीं होती थी, तो फुरसत के क्षणों में वे बैठे-बैठे आँखें बन्द करके भगवन्नाम का जाप करते थे। एक दिन एक अमीर का बेटा उनकी दुकान में आया। उस समय तिरुवल्लुवर आँखें बन्द किये भगवन्नाम के जप में तल्लीन थे। उस लड़के ने उनकी दिल्लगी करने के इरादे से एक साड़ी की ओर इशारा करके उसकी कीमत पूछी। सन्त द्वारा 'दो रुपये' बताने पर लड़के ने पास पड़ी कैंची उठाकर उसके दो टुकड़े करके पूछा – ''अब इस टुकड़े की कितनी कीमत है?'' सन्त ने शान्त भाव से जवाब दिया – ''एक रुपया।'' उन्हें शान्त देख लड़के ने उन दोनों टुकड़ों के और दो-दो टुकड़े करके कीमत पूछी, तो सन्त ने हर एक के चार-चार आने बताये। तब उस लड़के ने उन टुकड़ों के और कई टुकड़े किये और पूछा – ''अब क्या कीमत होगी एक टुकड़े की?'' सन्त ने कहा – ''इसकी कोई कीमत नहीं।''

लड़का सोचने लगा कि क्या ऐसा भी कोई व्यक्ति हो सकता है कि अपना नुकसान होते देखकर भी वह शान्त रह सकता है? निश्चय ही यह कोई महात्मा है, जिसे क्रोध बिल्कुल नहीं आया, बल्कि वह शान्त ही रहा। अब उसे पश्चाताप हुआ कि उसने व्यर्थ ही मजाक करके एक महात्मा को नुकसान पहुँचाया, साथ ही उसके हृदय को ठेस पहुँचाई। उसने उन्हें दो रुपये देते हुए कहा – ''यह लो साड़ी की कीमत।'' और माफी माँगते हुए झुककर उन्हें प्रणाम किया। सन्त बोले – ''जब तुमने साड़ी ली ही नहीं, तो मैं पैसे कैसे ले सकता हूँ?'' और उन्होंने उसे वे रुपये लौटा दिये।

सरल व कोमल स्वभाव यह सन्तों की पूंजी होती है। इसी कारण दूसरों को वश में करने में वे सफल होते हैं। उनकी कोमल वाणी, विनम्रता और सादगी दूसरों के कठोर हृदय को पिघला ही देती है। ❑❑❑
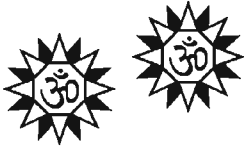
मेरी स्मृतियों में विवेकानन्द (१५)
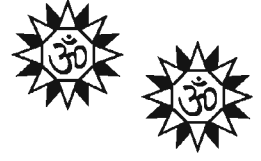
भगिनी क्रिस्टिन

(जो लोग महापुरुषों के काल में जन्म लेते हैं और उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं, वे धन्य और कृतकृत्य हो जाते हैं। भगिनी क्रिस्टिन भी एक ऐसी ही अमेरिकन महिला थीं। स्वामीजी-विषयक उनकी अविस्मरणीय स्मृतियाँ आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के १९३१ के जनवरी से दिसम्बर तक, फिर १९४५ के स्वर्ण-जयन्ती विशेषांक तथा १९७८ के मार्च अंकों में प्रकाशित हुई थीं। बाद में वे 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में संकलित हुई, वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

१९०२ ई. में मैंने उन्हें बेलूड़ मठ में देखा। उस समय वे उससे बिल्कुल भिन्न थे, जैसा कि मैंने उन्हें अमेरिका में देखा था। यहाँ मैंने सिंह को उसके स्वाभाविक परिवेश में देखा। यहाँ उनके लिये आचार आदि का मुखौटा पहनना या मानव-निर्मित नियमों के अनुसार चलना आवश्यक नहीं था। यहाँ उनमें एक ऐसी प्रशान्ति थी, जिसका विदेशों में कभी-कभी अभाव दिखता था। यहाँ वे अपनों के बीच में थे, अत: वे अपनी इच्छानुसार रह सकते थे। यहाँ हमने उनकी आत्मा की पहले से कहीं अधिक अभिव्यक्ति देखी। यहाँ वे अपने युवा भक्तों तथा श्रीरामकृष्ण की उन सन्तानों – अपने गुरुभाइयों से घिरे हुए थे, जो सुदीर्घ भ्रमण के बाद अब एक स्थान पर एकत्र हुए थे। उनका बहुत-सा कार्य समाप्त हो चुका था। वे अमेरिका तथा इंग्लैंड में और कुछ हद तक जर्मनी तथा फ्रांस में अपने सन्देश का प्रचार कर चुके थे। भारत में भी कोलम्बो से अल्मोड़ा तक सिंह-गर्जना सुनी जा चुकी थी। उनके युवा अंग्रेज शिष्य गुडविन के भक्तिपूर्ण श्रम के फलस्वरूप उनके सन्देश को स्थायी रूप दिया जा चुका था। अमेरिका में देखे अपने स्वप्न के अनुसार वे गंगातट पर भूमि खरीदकर श्रीरामकृष्ण की पूजा-अर्चना हेतु एक मन्दिर और अपने गुरुभाइयों – श्रीरामकृष्ण की सन्तानों को आश्रय देने हेतु एक मठ की स्थापना कर चुके थे। वे प्रचार-केन्द्रों, शिक्षण-संस्थानों, अनाथालयों, अकाल तथा बाढ़ राहत कार्यों का गठन कर चुके थे। वे केवल उन्तालिस (३९) वर्ष के थे और जानते थे कि उनकी महासमाधि – मुक्ति आसन्न है। ४ जुलाई, १९०२ को वह दिन आ पहुँचा।

अन्य हिन्दुओं की भाँति स्वामीजी का भी गीता (४/७-८) की इस उक्ति में विश्वास था –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानम् अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म-संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।

– "हे अर्जुन, संसार में जब-जब धर्म का ह्रास और अधर्म में वृद्धि हो जाती है, तब-तब मैं अवतार लेता हूँ। भलों की रक्षा, दुष्टों के विनाश और धर्म की सुस्थापना के लिये मैं प्रत्येक युग में जन्म लेता हूँ।"

जब-जब आध्यात्मिकता का अभाव हो जाता है और संसार को उसकी अतीव आवश्यकता का बोध होने लगता है, तब-तब ईश्वर मानव-रूप में आते हैं। अवतार के आगमन के साथ ही संसार में एक महान् आध्यात्मिक शक्ति का उदय होता है। वह शक्ति भले की रक्षा करती है, बुराई का नाश करती है और धर्म का संरक्षण करती है, उसे पुन: सजीव बनाती है, हजारों लोगों को सजीव आध्यात्मिकता के प्रवाह में खींचती है और नवजीवन की सृष्टि करती है। यह प्रभाव केवल आध्यात्मिक स्तर पर ही नहीं, अपितु बौद्धिक तथा भौतिक स्तर पर भी दीख पड़ता है। बौद्धिक क्षेत्र में यह विद्या की हर विधा – कला, साहित्य तथा संगीत के पुनर्जागरण के रूप में अभिव्यक्त होती है। इन विधाओं में प्रतिभावान लोग प्रकट होते हैं और प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं। सर्वत्र नया जीवन दीख पड़ता है। भौतिक जगत् में यह शक्ति उतनी प्रबल नहीं, अपितु कहीं अधिक व्यापक तथा स्पष्ट दीख पड़ती है। यह और भी अधिक समृद्धि के रूप में, स्वाधीनता के प्रति एक सद्य:जात प्रेम के रूप में तथा प्रबलतर राष्ट्रीय चेतना के रूप में अभिव्यक्त होता है। राष्ट्र एक पुनर्जागरण के दौर से होकर गुजरता है। स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार यह शक्ति लगभग छह सौ वर्षों तक कार्यकारी रहती है और क्रमश: तब तक ह्रास को प्राप्त होती जाती है, जब तक कि जगत् एक बार फिर अधर्म के पंक में डूब जाता है और ईश्वर के अन्य अवतार की प्रतीक्षा करने लगता है। यद्यपि सभी अवतार एक ही श्रेणी के नहीं होते, परन्तु उनमें से प्रत्येक के आने से आध्यात्मिक शक्ति की एक बाढ़ आ जाती है, जो जीवन के सभी स्तरों को नवजीवन प्रदान करती है और संसार को चलाती है। कुछ दृष्टान्तों के द्वारा इस सिद्धान्त को

और भी स्पष्ट किया जा सकता है ।

बुद्ध के अवतरण के पूर्व भारत भौतिकतावाद के दलदल में फँसा हुआ था । सारे धर्मशास्त्रों पर केवल ब्राह्मणों का अधिकार था और उनका आदेश था कि ये गोपनीय उपदेश यदि कोई शुद्र सुन ले, तो उसके कानों में उबलता हुआ तेल ढाल दिया जाय । उस समय ईश्वर के एक नये अवतार का समय आसन्न था और तब बुद्ध का जन्म हुआ । करुणामय बुद्ध आये और उन्होंने कुछ छिपा नहीं रखा । उन्होंने कहा – ''मेरी मुट्ठी कभी बन्द नहीं रही, जो कुछ मैं जानता था वह सब मैंने बता दिया ।'' यह उपदेश ब्राह्मण और चाण्डाल, सन्त और चोर – सबमें समान रूप से वितरण किया गया । जैसे ईश्वर की दृष्टि में, वैसे ही उनकी दृष्टि में भी सभी लोग समान थे । उनके आगमन के साथ आध्यात्मिकता की एक नई बाढ़ आ गयी । हजारों-लाखों लोग इस प्रबल शक्ति के प्रवाह से आच्छन्न हो गये । इसकी सर्वोच्च तथा महानतम अभिव्यक्ति धर्म के क्षेत्र में हुई । उसमें एक महान् पुनरुत्थान हुआ । प्रत्येक श्रेणी के अनेक लोगों ने संसार को छोड़कर त्याग का जीवन अपनाया । राजकुमार और नाई, स्वामी और सेवक – सभी समान रूप से इस मार्ग पर चले । एक बार त्याग-पथ अपनाने के बाद सभी समान थे । राजकुमार का भूतपूर्व नाई यदि उसके पूर्व दीक्षाप्राप्त होता, तो राजकुमार उसके चरणों में प्रणाम करता ।

पाली धर्मग्रन्थों में यह घटना वर्णित है – अनेक सशक्त शाक्य राजकुमारों ने बुद्ध के संघ में संन्यासी होने का संकल्प लिया था । उनका नाई उनके साथ था, जो उनके द्वारा त्यागे हुए वस्त्रों तथा आभूषणों को उनके घर वापस ले जानेवाला था । उनके साथ चलते हुए नाई को भी इस नये जीवन में सम्मिलित हो जाने की आकांक्षा होने लगी । राजकुमारों ने उसे उसके शुभ संकल्प में प्रोत्साहित किया, परन्तु कहा कि वह उन लोगों के पहले ही जाकर दीक्षा प्राप्त कर ले, ताकि बाद में वे लोग उसके प्रति सम्मान व्यक्त कर सकें । जाति-सम्बन्धी प्रतिबन्धों तथा विशेष अधिकारों को दरकिनार कर दिया गया था और उसी को महान् माना जाता था, जो 'ईश्वर के राज्य में' (आध्यात्मिक क्षेत्र में) महान् था ।

यह पुनर्जागरण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, यहाँ तक कि राजनीति के क्षेत्र में भी दीख पड़ा था, जब प्रथम बौद्ध सम्राट् अशोक के अधीन भारत एक महान्, संगठित तथा समृद्ध राष्ट्र में परिणत हो गया था । परन्तु दो या तीन शताब्दियों के बाद ह्रास आरम्भ हुआ और आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य के काल तक बौद्ध-धर्म पतन की ऐसी अवस्था में पहुँच गया था कि इसे समाप्त कर देना पड़ा ।

बुद्ध के छह सौ वर्षों बाद नाजरथ के ईसा का आगमन हुआ । उनके जन्मस्थान में रोमन लोगों का राज्य था । वहाँ अत्याचार का बोलबाला था । परिस्थिति इतनी खराब थी कि सभी श्रेणी के लोग इस अवस्था से निजात पाने के लिये एक मसीहा के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे । परन्तु क्या ईश्वर कभी ऐसे रूप में आ सकते हैं, जो संसारी लोगों को स्वीकार्य हो? नाजरथ के उस बढ़ई के पुत्र को लोगों ने हीन दृष्टि से देखा और परित्याग कर दिया । केवल कुछ सामान्य लोगों ने ही उनका अनुसरण किया । पर वे एक प्रबल व्यक्ति थे, सच्चे ईश्वर-तनय थे और जगत् को उसकी नींव तक हिला देने वाले थे; क्योंकि राष्ट्रों के इतिहास में दिखता है कि उनके देहान्त के अल्प काल बाद ही रोमन साम्राज्य का विघटन व पतन हो गया और तदुपरान्त सम्राट् कॉन्सटेंटीन ने ईसाई-धर्म को राजकीय धर्म के रूप में मान्यता दे दी ।

इस घटना के छह सौ वर्ष बाद, एक बार फिर अरब में पैगम्बर मुहम्मद आये और उनका देश जिस अन्धकार और दुरवस्था में पड़ा हुआ था, उससे उसे बाहर निकाला । उनके आविर्भाव के साथ ही उस मुस्लिम शक्ति का उदय आरम्भ हुआ, जो आगे चलकर पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका, यहाँ तक कि दक्षिणी यूरोप और साथ ही भारत में भी छा जाने वाला था ।

दक्षिणी भारत में आविर्भूत शंकराचार्य एक अन्य महान् आलोक थे, जो 'भलाई की रक्षा, बुराई का नाश तथा धर्म की स्थापना' करने आये थे । तब तक अर्थात् लगभग ८०० ई. तक बौद्ध-धर्म का पतन हो चुका था । इसे अपनाने वाले अनेक पतित देशों की अनेक बुरी प्रथाएँ इससे जुड़ गयी थीं । यह उस समय तक विनाश के योग्य ही हो गया था । उन्होंने भारत में एक बार फिर आत्मा की विशुद्ध उदात्त शिक्षा का प्रचार किया । बौद्ध-धर्म को भारत से निकाल दिया गया, प्राचीन ज्ञान की पुन: प्रतिष्ठा हुई और राष्ट्र के जीवन का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ ।

यूरोप के 'अन्ध युग' के उपरान्त तेरहवीं शताब्दी वहाँ के लिये महान् सक्रियता का काल था । इसके बाद 'ईश्वर के गायक' असीसी के सन्त फ्रांसिस का आगमन हुआ । पूरे देश में आध्यात्मिकता का एक स्रोत बह चला और हजारों लोगों ने 'भगिनी निर्धनता' का वरण किया । इस शक्ति के उत्थान के साथ ही पहले तो दान्ते (१२६५-१३२१) और गियोटो (१२६६-१३३६) आये, तदुपरान्त सवोनरोला (१४५२-१४९८) तथा माइकेलेंजेलो (१४७५-१५६५), बेनेवेनूटो सेलिनी (१५००-१५७१), बर्नीनी (१५९८-१६८०) और अन्य महान् लोग आये । पुनर्जागरण आरम्भ हो चुका था ।

अब हम बीसवीं सदी में आते हैं, जिसमें विश्व-इतिहास का महानतम युद्ध छिड़ा हुआ है, भाई भाई से लड़ रहे हैं, पृथ्वी के करोड़ों सर्वोत्तम तथा सर्वश्रेष्ठ लोगों का विनाश हो चुका है, यूरोप का एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध और पूरब

पश्चिम के विरुद्ध आमरण संघर्ष में जूझ रहा है; अकाल, महामारी, धर्महानि तथा भौतिकतावाद का बोलबाला है। पाश्चात्य सभ्यता विलुप्ति का खतरा झेल रही है। यदि कभी एक अवतार की आवश्यकता रही हो, तो यही वह उपयुक्त समय है। क्या इस चरम आवश्यकता के क्षण में उसकी पूर्ति होगी? युग के लक्षण क्या कहते हैं? उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान विश्व के विभिन्न अंचलों में छोटे-बड़े कई सितारों का उदय हुआ, जिनमें से प्रत्येक ने विश्व को आच्छन्न कर रहे इस महान् संकट से उबारने में, अपनी छोड़ी-बड़ी भूमिका निभाई है। प्रत्येक ने एक नयी आध्यात्मिक ज्योति तथा शक्ति का आनयन किया है। इनमें से महानतम हैं ईरान में बाब तथा बहाउल्लाह और भारत में श्रीरामकृष्ण तथा विवेकानन्द। इनमें से युगावतार कौन हैं? हम लोग इन विभूतियों के इतने निकट हैं कि इनमें से कौन महानतम है, यह जान नहीं सकते। बहाई लोग कहेंगे कि वे बाब तथा बहाउल्लाह हैं, जबकि श्रीरामकृष्ण के अनुयायी उतने ही निश्चय के साथ दावा करेंगे कि वे श्रीरामकृष्ण तथा विवेकानन्द हैं। क्या कुछ ऐसे लक्षण हैं, जिनके आधार पर हम कुछ कह सकें? वर्तमान युग को जिस सन्देश की परम आवश्यकता है, वह किसने दिया है? इस सन्देश को किसी विशेष राष्ट्र नहीं, अपितु पूरे विश्व के लिये होना चाहिये। वह कौन-सा सन्देश है, जिसने नवीन आध्यात्मिक युग का श्रीगणेश किया हो; जिसने एक ऐसी ज्योति का आनयन किया हो, जो कभी बुझायी न जा सकेगी; जिसने एक ऐसी शक्ति को उन्मुक्त कर दिया हो, जो एक नये स्वर्ग तथा एक नयी पृथ्वी का निर्माण करेगी। केवल भविष्य ही इसका निर्णय कर सकेगा।

(प्रबुद्ध भारत, मार्च १९७८)

❑❑

मैंने गीता से क्या पाया?

आई. जे. एस. तारापोरवाला

बचपन में मेरे पिताजी प्राय: मुझे संस्कृत पढ़ने के लिये कहा करते। वे कहते – ''संस्कृत पढ़ लेने पर तुम गीता जैसे ग्रन्थ का रसास्वादन कर सकोगे।'' स्वर्गीय पिताजी की इस कृपा का स्मरण कर मैं गद्‌गद हो उठता हूँ और मैं उन्हें अपना आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक मानता हूँ। मेरे पिताजी गीता को 'मानव-मात्र की बाइबिल' कहा करते थे और अब अपने जीवन में, अवस्था तथा अनुभव में मैं जितना ही आगे बढ़ता जा रहा हूँ उनके कथन की सत्यता को उतना ही अधिकाधिक समझता जा रहा हूँ।

पहली बात, जो गीता के सम्बन्ध में कही जा सकती है और जो सबका ध्यान आकृष्ट करती है, वह है भाषा की सादगी। इसमें छन्द, स्वर, भाषा आदि की क्लिष्टता का कहीं नाम भी नहीं है, थकानेवाले लम्बे-लम्बे समास नहीं हैं और न क्रियाओं के विलक्षण रूप ही हैं। छन्दों का प्रवाह सरल, स्निग्ध तथा स्वाभाविक है और कहीं भी ऐसे कठिन शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है, जिन्हें समझने के लिए माथापच्ची करनी पड़े। मानव-जाति के समस्त सर्वोत्कृष्ट धर्मग्रन्थों की यही विशेषता है। जन-साधारण के लिए, जन-साधारण की भाषा में ही भगवान ने अपनी मधुर वाणी सुनायी है। भाषा सरल है और भाव गम्भीर। भाव इतने गम्भीर हैं कि हम जब-जब और जितनी बार भी इसे पढ़ते हैं, इसमें से एक नया ही अर्थ, एक नया ही भाव खुलता है। धर्म के समस्त सनातन शास्त्रों की यही बात है – चाहे वह गीता हो, बाइबिल हो, कुरान हो, या 'गाथा' हो।

हाँ, गीता के सम्बन्ध में मैं कह रहा था कि अपने स्कूल तथा कॉलेज-जीवन में गीता का मेरा सारा ज्ञान कुछ गिने-चुने, विशेषत: दसवें और पन्द्रहवें अध्याय के श्लोकों तक ही सीमित था, क्योंकि मेरे पिताजी को ये ही अध्याय विशेष प्रिय थे। यूरोप-प्रवास के दौरान मेरा गीता का अध्ययन और भी अधिक गम्भीर और आत्मीयतापूर्ण होता गया। बम्बई में एक बार मैंने एक मराठी महिला को नवें अध्याय का सुन्दर सुमधुर पाठ करते सुना। तब से वह मधुर स्वर मेरे कानों तथा हृदय में गूँजता रहा है और सच तो यह है कि गीता के साथ मेरे घनिष्ठ सम्बन्ध का श्रीगणेश वहीं से हुआ। तब से गीता मेरे जीवन का एक अंग बन गई, मेरे अध्यात्म दर्शन का आधार बन गई और मेरे सारे कार्यों का संचालन गीता के प्रकाश में ही होने लगा। मेरा यह विश्वास है कि मेरे लिए गीता के उपदेश कभी भी समाप्त नहीं हो सकते, क्योंकि उसमें, न केवल मेरे इसी जीवन के लिए अपितु भावी अनन्त जीवनों के लिए भी चिर नवीनता विद्यमान है।

जैसे-जैसे मैं सयाना होता गया, गीता के गम्भीर रहस्य क्रमश: मेरे सामने खुलने लगे। संस्कृत पढ़कर और गीता की सरल भाषा को बिना किसी मानसिक परिश्रम के अच्छी तरह समझते हुए, अब मैं उनकी गहराई में उतरने लगा। गीता में मुझे जीवन की वह व्याख्या, जीवन की वह दार्शनिक मीमांसा मिली, जिसने मुझे पूर्णत: परितुष्ट कर दिया और मेरे जीवन के विविध परिवर्तनों तथा हेर-फेर में बराबर एक-सा साथ दिया है और कभी मुझे छोड़ दिया हो, ऐसा स्मरण नहीं आता। गीता के सहारे मैं भगवान की लोक-मंगल कामना को, यत्किंचित् ही सही, हृदयंगम कर सका हूँ और जब-जब, जितनी बार भी मैं गीता के किसी श्लोक या किसी अध्याय का पाठ करता हूँ, तो उसमें एक अत्यन्त नवीन, अत्यन्त गम्भीर रहस्य का उद्घाटन होता है। गीता चिर नवीन है। समस्त आप्त ग्रन्थों की यही मर्म-कथा है। इतना ही नहीं, यह चिर नवीनता, यह सनातन सत्यता प्रत्येक व्यक्ति के लिए, प्रत्येक प्राणी के लिए हैं; उसका मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास और दृष्टिकोण चाहे जो या जैसा भी हो। यही कारण है कि दर्शन के भिन्न-भिन्न परस्पर विरोधी सम्प्रदाय अपने-अपने मत के समर्थन में गीता का आश्रय लेते हैं और उसके श्लोक उद्धृत करते हैं। मैं तो जहाँ तक समझता हूँ, गीता की विभिन्न टीकाएँ, गीता की सार्वभौम मान्यता, इसकी चिर नवीनता के ही प्रमाण हैं। गीता पर मेरी अपनी भी टीका है, जिसे मैंने कागज पर नहीं उतारा रहा है, वरन् जिसे मैं अपने जीवन में उतार रहा हूँ। बात यह है कि गीता का अर्थ और भाव क्रमश: जैसे-जैसे हमें जीवन में अनुभव प्राप्त होने लगते हैं, वैसे-वैसे उसका विस्तार होता जाता है; उसमें हेर-फेर भी होता रहता है और उसमें अधिकाधिक गहराई आती जाती है।

गीता ने सबसे अधिक सहारा मुझे तब दिया, जब मैं अपने पारसी धर्मगुरु महर्षि भगवान जरथुस्त्र की दिव्य वाणी का अनुशीलन करने लगा। मेरी पहली कठिनाई प्राचीन ईरान की भाषा – 'अवेस्ता' को लेकर थी। यहाँ भी संस्कृत ने बड़ी सहायता की और संस्कृत तथा अवेस्ता उतनी ही निकट की भाषाएँ हैं, जितनी कि मैथिली और बंगाली हैं। भाषा की कठिनाई हल हो जाने के बाद मैं जरथुस्त्र की गाथाओं की गहराई में उतरने की चेष्टा करने लगा। 'गाथा' और 'गीता' – इन दोनों में कितना साम्य है, कितनी एकता है ! गीता और गाथा – इन दोनों ही शब्दों का मूल एक ही है। गीता मेरे जीवन का प्रधान अंग बन गई थी और जब मैंने यह जाना कि हमारी जातीय परम्परा से प्राप्त धर्मशास्त्रों का आदेश ठीक वही है जो गीता का है, तब तो मेरे आनन्द का ठिकाना न रहा। वस्तुत: गाथा के प्रत्येक छन्द के समान भाववाला श्लोक, मैं गीता से उद्धृत कर सकता था। तब मैंने अनुभव किया और उस बात का अनुभव किया, जिसे पहले कभी भी अनुभव नहीं किया था कि चाहे जिस भाषा का भी आवरण हो, भगवान की वाणी सर्वत्र एक ही है। दुर्भाग्य की बात है कि सन्देशवाहक को तो हम याद रखे रहे, परन्तु उनका सन्देश भुला बैठे। महत्त्व की वस्तु तो सन्देश ही है। उपदेश की महिमा इस बात में है कि वे जो कुछ उपदेश करते हैं, वैसा ही आचरण भी करते हैं, कथनी और करनी में एकता है। हमारा दृष्टिकोण कितना संकीर्ण तथा संकुचित है कि हम अपने को कहते तो कृष्ण का, ईसा का, जरथुस्त्र का और बुद्ध का अनुयायी हैं; परन्तु हम यह भुला बैठे हैं कि ये सभी एक थे और सही अर्थों में एक थे और अज्ञानवश ही हम उनके एक-एक नाम पर लड़ते फिरते हैं।

गीता ने ही सर्वप्रथम मेरे जीवन को एक दार्शनिक दृष्टि-कोण प्रदान किया। बाद में जब मैं अपने धर्मग्रन्थों की ओर मुड़ा, तो मुझे वहाँ भी गीता की ही दार्शनिकता, वही गम्भीरता, वही चिर नवीनता मिली। इस प्रकार गीता ने ही मेरी दृष्टि खोलकर मुझे यह बतला दिया कि जरथुस्त्र का सन्देश भी वही है, जिसे हम पहले से पुनीत मानते थे अर्थात् जिसे हमने गीता में प्राप्त किया था और इस सामंजस्य तथा एकता के कारण मेरा हृदय आनन्द से भर गया। गीता ने मुझे मेरे अपने विश्वास में अधिक दृढ़ कर दिया और सबसे अनोखी बात तो यह है कि गीता के द्वारा ही मैंने सब धर्मों की एकता तथा आत्मीयता का रसास्वादन किया है। यह जान लेने पर जीवन में एक ऐसा आनन्द, एक ऐसी निश्चिन्तता आ जाती है जिसका बखान नहीं हो सकता और जिससे बढ़कर आनन्द तथा निश्चिन्तता का कोई साधन है ही नहीं।

(कार्ष्णि-कलाप, दिसम्बर २००४ के अंक से साभार)

दैवी सम्पदाएँ (५) दम

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

दैवी सम्पत्ति में परिगणित दम, सुरता की ओर मनुष्य के अधिरोहण का प्रमुख सोपान है। इसीलिए महाराज मनु ने दश-लक्षण धर्म में दम की गणना की भी है और गीता में इसे ब्राह्मण का स्वाभाविक कर्म प्रतिपादित किया है।[१] यह आत्म-नियंत्रण, आत्मानुशासन, दुष्कर्मों से परावर्तन, शक्ति का अपव्यय से संरक्षण तथा इन्द्रियों के विषयों में समता का व्यवहार है। यह हमारे विचारों के क्रियान्वयन का व्यावहारिक पक्ष है। सन्तुलित व्यक्तित्व का रहस्य और संयमित जीवन का बीज है। आचार्य शंकर विवेक-चूडामणि में लिखते हैं –

विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके।
उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः।।

– कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को उनके विषयों से खींच कर अपने-अपने गोलकों में स्थिर करना 'दम' कहलाता है।

दम बाह्य वृत्तियों का निग्रह है – **निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इति अभिधीयते।** कुत्सित कर्म से चित्त को हटा लेना भी दम है – **कुत्सितात् कर्मणो विप्रयुज्य चित्त-निवारणं स कीर्तितो दमः।** गीता के शांकर भाष्य में – **बाह्य-करणानाम् उपशमः दमः** और श्रीधर भाष्य में – **दमो बाह्येन्द्रिय-संयमः** – कहकर दम को परिभाषित किया है।

इन्द्रियों की वृत्तियाँ केन्द्राभिमुखी (Centripetal) न होकर केन्द्रापसारी (Centrifugal) होती हैं। वे गोले से बाहर की ओर दौड़ती हैं। उनका स्वभाव निम्नगामी होता है, ऊर्ध्वगामिता उनके स्वभाव के विपरीत है। दम के द्वारा उन्हें केन्द्राभिमुखी और ऊर्ध्वगामी बनाया जा सकता है। मन के उद्वेगों पर नियंत्रण रखा जा सकता है और मनुष्य के पतन की सहज प्रकिया अवरुद्ध हो सकती है। श्रवण, त्वचा, नेत्र, घ्राण और जिह्वा – ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक्, पाणि, पाद, गुदा तथा उपस्थ – ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रियों में संवेदनशीलता होती है। और वे अपने इस गुण के कारण मस्तिष्क के संवेदना-केन्द्र को सूचना देती हैं। जिसके कारण पदार्थ का ज्ञान और सुख-दुखात्मक अनुभूति होती है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय का अलग-अलग विषय है, जैसे – श्रवण का शब्द, त्वचा का स्पर्श, नेत्र का रूप, घ्राण का गन्ध और जिह्वा का रस। इन्द्रियाँ सर्वदा मधुर, सुखद तथा अनुकूल विषयों का उपभोग करना चाहती हैं। विषयों से उपरति उन्हें स्वीकार्य नहीं है। कठोनिषद् में एक बहुत सुन्दर रूपक है, जिसमें आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि, मन को लगाम, इन्द्रियों को घोड़ा तथा विषयों को गोचर भूमि निरूपित किया है –

आत्मानं रथिनं विद्धि
शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि
मनः प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्
विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं
भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।

इन्द्रिय रूपी घोड़ों की लगाम ढीली नहीं होनी चाहिए। यदि वह ढीली हुई, तो घोड़े विषयों के चरागाह में घुस पड़ेंगे और फिर उन्हें निकलना सम्भव नहीं होगा। इन्द्रियों के विषय इतने प्रबल हैं कि किसी भी एक इन्द्रिय का विषय ही जीव के सम्पूर्ण विनाश के लिए काफी है। मन यदि किसी एक इन्द्रिय के विषय में भी रुचि लेता है, रागात्मिका वृत्ति के लाल रंग में रँगता है, तो वह इन्द्रिय उसका वैसे ही हरण करती है, जैसे जल में पड़ी नाव को वायु अपनी अनुकूल दिशा की ओर ले जाती है (गीता २/६७)। हिरण बहेलिये की बाँसुरी की सुन्दर तान सुनकर मारा जाता है; हाथी कोमल तथा हरी घास पर लेटकर स्पर्श सुख की इच्छा से गड्ढे में गिर जाता है, पतंगा दीप-शिखा के सुन्दर रूप को देखकर जल जाता है, भौंरा रस के लोभ में काँटों से घिर जाता है, कमल-पुष्प के भीतर बन्द होकर प्रातः पुष्प चुननेवाले के द्वारा मसल दिया जाता है, मछली वंशी में लगे मांस के

१. धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। (मनुस्मृतिः) और –
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।। (गीता १८/४२)

टुकड़े की गन्ध के कारण काँटे में फँसकर प्राण दे देती है। जब इन प्राणियों का एक ही विषय से प्राणान्त हो जाता है, तो मानव जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध – पाँचों विषयों का दास हो, उसके पतन का तो कहना ही क्या?

कुरंग-मातंग-पतंग-भृंग-
मीना हताः पंचभिरेव पंच ।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते,
यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ।।

पाँच-पाँच इन्द्रियों का सेवन करनेवाले प्रमादी जन को पतन से बचाने के लिए इन्द्रिय-निग्रह आवश्यक है। इन्द्रिय-रूपी घोड़ों के मुँह में लगी मन-रूपी लगाम बुद्धि-रूपी सारथी के हाथ में कड़ी होनी चाहिए। विवेक की कशा का भय भी इन घोड़ों को दिखाया जाना और बुद्धि सारथी का हर समय चौकन्ना रहना जरूरी है। नहीं तो निर्भीक और स्वतंत्र होकर ये घोड़े रथ सहित सारथी और रथी को संकट में डाल देंगे। इसलिए इन घोड़ों पर नियंत्रण रखने के लिए दमशीलता की प्रवृत्ति अपेक्षित है। यही ब्रह्मचर्य है। जिससे ऋषियों ने तेज, ओज और शान्ति की सिद्धि प्राप्त की थी।

दम के लिए निश्चयात्मक बुद्धि होनी चाहिए। भोगासक्त तथा भोगों की अनन्त इच्छाओं वाले पुरुषों की बुद्धि निश्चयात्मक नहीं होती। वे कामनाओं के वशीभूत होकर अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण खो देते हैं और विषयों के दास बनकर नाचते हैं। जो स्वाधीनचेता, आत्मवश्य तथा स्वतंत्र अन्त:करण वाले नहीं है। जिसमें दमशीलता का अभाव है, वह अशान्त है और अशान्त को सुख कहाँ है – **अशान्तस्य कुतः सुखम्?** (२/६५)। सुखी वही है, जो स्थितप्रज्ञ और स्थिरबुद्धि है। स्थिरबुद्धि वह है, जिसने अपनी मनोगत कामनाओं को छोड़ दिया है और जो अपने आपमें ही सन्तुष्ट है। जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार जो अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटा लेता है, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है (२/५५ तथा ५८)। स्थिरबुद्धि मनुष्य का विषयों के प्रति राग भी समाप्त हो जाता है। यह नहीं कि वह ऊपर से इन्द्रियों को नियंत्रित कर भीतर से विषयों का अनुचिन्तन करता हो। विषयों के आन्तरिक अनुचिन्तन से उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है और फिर व्यक्ति काम, क्रोध, मोह, स्मृति-विभ्रम तथा विनाश के चक्र में फँस जाता है (३/६२-६३)। इसलिए इन्द्रियों का न केवल बाह्य नियमन ही आवश्यक है, अपितु आन्तरिक रूप से भी उनका अपकर्षण अनिवार्य है, क्योंकि जो इन्द्रियों को सयंमित कर मन से विषयों का स्मरण करता है, वह तो ढोंगी है, मिथ्याचारी है, जो सचमुच मन से इन्द्रियों को वश में करता है, वही श्रेष्ठ है (३/६-७)। भगवान कृष्ण कहते हैं कि मनुष्य को इन्द्रियों के विषयों में तटस्थ भाव रखना चाहिए, न राग और न द्वेष, क्योंकि ये दोनों ही कल्याणमय मार्ग के बाधक हैं (३/३४)।

श्रीराम दमशीलता के अद्भुत उदाहरण हैं। अनेक अवसरों पर उन्होंने स्वयं पर जिस प्रकार नियन्त्रण स्थापित किया था, वह वर्णनातीत है। जिस समय उनके राज्यभिषेक के स्थान पर वनाभिषेक हुआ था, उस समय उनके मुख पर प्रसन्नता के भाव थे और चित्त में चौगुना चाव था – **मुख प्रसन्न चित्त चौगुन चाऊ।** उनके मुख-कमल की श्री न तो राज्याभिषेक से प्रसन्न हुई और न वनवास के दुख से मलिन – **प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः मुखाम्बुजश्रीः रघुनन्दनस्य** ...।। चित्रकूट में श्रीराम से भाई भरतजी मिलने आते हैं। लक्ष्मण जी अत्यन्त क्रुद्ध हैं और भरतजी को सेना तथा शत्रुघ्न के साथ मारने के लिए राम की दुहाई देते हैं, पर श्रीराम के शीतल वचन उनके क्रोध को शान्त कर देते हैं –

लखन तुम्हार सपथ पितु आना ।
सुचि सुबन्धु नहि भरत समाना ।।

भगवान राम और रावण युद्ध में आमने-सामने खड़े हैं। राक्षसराज रावण तो रथ पर सवार है, परन्तु श्रीराम पैदल हैं, पैरों में जूते भी नहीं हैं। यह देखकर विभीषण अधीर होकर कहते हैं – "प्रभो, न तो आपके पास रथ है, न पैरों में जूते हैं। फिर इस बलवान राक्षस से कैसे जीतेंगे?" श्रीरामजी उसे समझाते हैं – "हे सखा, सुनो। जिसके पास इस प्रकार का रथ हो, जिसमें शौर्य और धैर्य के चक्के लगे हों; जिस पर सत्य एवं शील की ध्वजाएँ हों; बल, विवेक, दम और परोपकार के घोड़े हों; क्षमा, कृपा तथा समता की लगाम हो, उसकी विजय सुनिश्चित है।" श्रीराम में कितना आत्मविश्वास था और यह आत्मविश्वास मिला था दमशीलता के कारण।

दम का मार्ग कठिन है। बिना प्रभु अनुग्रह के दम भी नहीं होता। यदि मन को भगवान में लगाकर नित्य उपासना की जाय, तो मन इन्द्रियों में आसक्त नहीं होगा। जो सर्वभूतहित में रत समबुद्धि वाले योगी इन्द्रियों के समुदाय को नियंत्रित कर परमात्मा की उपासना करते हैं, वे उसे ही प्राप्त होते हैं। इसलिए उन्हीं में मन तथा बुद्धि को लगाना उचित है।

जो सदा शान्त व दान्त है, उसे कभी क्लेश नहीं होता। वह कभी पराई विभूति को देखकर दुखी नहीं होता –

दान्तः शमपरः शश्वत् परिक्लेशं न विन्दति ।
न च तप्यति दान्तात्मा दृष्ट्वा परगतां श्रियम् ।।
(महाभारत)

दम से तेज की वृद्धि होती है। दम पवित्र और उत्तम है। इससे व्यक्ति निष्पाप एवं तेजस्वी होकर महान् बनता है –

दमात्तेजो वर्धयति पवित्रं दममुक्तमम् ।
विपाप्मा वृद्धतेजास्तु पुरुषो विन्दते महत् ।।
(महाभारत)

❖ **(क्रमशः)** ❖

माँ श्री सारदा देवी (७)

आशुतोष मित्र

यह रचना 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के रूप में १९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित हुई थी। यहाँ उसके प्रथम तीन अध्याय ही लिये गये हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

निम्नलिखित घटना में माँ की भूमिका तथा विचार ध्यान देने योग्य है – मास्टर महाशय अपने तत्कालीन छात्र विनोद बिहारी सोम को ठाकुर के पास ले गये थे। विनोद बिहारी की उम्र उस समय काफी कम थी। उनका नाम 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ में कई बार आया है। उनका घर रामकान्त बोस स्ट्रीट[२९] – बागबाजार में था। भक्तों में वे 'पद्मविनोद' नाम से परिचित थे। वैसे हमने बहुत दिनों बाद उन्हें देखा और उसी समय से उनका वर्णन करेंगे, लेकिन इसके पूर्व उनके जीवन में जो अनेक परिवर्तन आ चुके थे, उन्हें बताये बिना उनकी अलौकिक जीवनी समझी नहीं जा सकती। यौवन में वे थियेटर से जुड़े और अभिनय के क्षेत्र में सफलता प्राप्त की। सभी भूमिकाओं में उन्होंने विशेष दक्षता का परिचय दिया था, जिनमें से केवल एक भूमिका का हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं। गिरीशचन्द्र के 'प्रफुल्ल' नाटक में वे 'मुल्लुक चन्द धूधूरिया' की भूमिका अदा करते थे। यह भूमिका वे इतने सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करते कि अब तक कोई भी उनकी बराबरी नहीं कर सका है। यह बात अविनाश चन्द्र गंगोपाध्याय ने 'गिरीश-चन्द्र' ग्रन्थ में प्राय: स्पष्ट रूप से ही स्वीकार किया है।

उस समय थियेटर में काम करनेलाले अधिकांश लोगों के जीवन में गुणों के साथ-साथ कुछ दोष भी आ गये थे। हमारे पद्मविनोद भी काफी मद्यपान करने लगे थे। यहाँ तक कि जब हम लोगों ने उन्हें देखा, उस समय भी वे इसी लत के कारण प्राय: सर्वस्व खो चुके थे। सुना है कि वे बीच-बीच में शरत् महाराज से मिलने बलराम बाबू के घर आया-जाया करते और उन्हें 'दोस्त' कहकर सम्बोधित करते थे।

एक दिन की बात है। उस समय रात का दूसरा प्रहर बीत चुका था। हम सभी बागबाजार स्ट्रीट के मकान[३०] में सो रहे थे। सहसा बन्द खिड़की के खटखटाने तथा 'दोस्त, दोस्त' – की आवाज से हमारी नींद खुल गयी। पद्मविनोद को आया जानकर शरत् महाराज ने हम लोगों को धीरे से सावधान करते हुए, जवाब न देने या दरवाजा न खोलने को कहा; क्योंकि नशे की हालत में उनके चिल्लाने की सम्भावना थी और इससे ऊपर माँ के नींद खुल जाने का डर था। कई बार बुलाने के बाद अन्त में पद्मविनोद यह कहकर चले गये – "मैं इतनी रात में आया और दोस्त, तुम उठे भी नहीं और जबाब भी नहीं दिया !"

दूसरी बार जब वे आये, उस समय रात का लगभग तीसरा प्रहर था। पहले की तरह आज भी हम लोगों का उत्तर न पाकर वे सड़क पर खड़े होकर माँ को सम्बोधित करके कहने लगे – "माँ, तुम्हारा लड़का आया है, उठो माँ" – और यह कहकर नशे की झोंक में (अपने मधुर कण्ठ से) गाने लगे – (भावार्थ) –

"हे करुणामयी माँ, उठो, अपनी कुटिया के द्वार खोलो। अँधेरे में मुझे कुछ दिखाई नहीं दे रहा है, इसलिये मेरा हृदय जोरों से धड़क रहा है। माँ, सन्तान को बाहर रखकर तुम अन्त:पुर में सोयी हुई हो। मैं 'माँ, माँ' - कहकर तुम्हें इतना पुकार रहा हूँ, क्या तुम्हारी नींद नहीं टूट रही है?"

भजन की पहली कड़ी के साथ-साथ ऊपर माँ के कमरे की खिड़की का एक पल्ला खुलने की ध्वनि आयी। शरत् महाराज बोले – "अरे, माँ को जगा दिया !" भजन की चौथी कड़ी पूरी होने के साथ-साथ माँ की खिड़की पूरी खुल गयी। कुतूहलवश हम लोग धीरे से खिड़की खोलकर गैस की रोशनी में देखने लगे। माँ की खिड़की खुलने के शब्द से पद्मविनोद – "माँ उठ गयी? सन्तान की पुकार सुन ली? उठ गयी हो, तो प्रणाम स्वीकार करो" – कहकर सड़क पर ही लोटने लगे। फिर उठकर उस स्थान की धूलि को मस्तक पर धारण करके चले गये, पर चुपचाप नहीं गये – पुन: आलाप लेकर गाते हुए गये। निस्तब्ध रात्रि में दूर से भी हमारे कानों में आने लगा –

"हे मन, प्यारी श्यामा माँ को यत्नपूर्वक हृदय में रखो। हे मन, तू देख और मैं देखूँ और कोई उन्हें न देख सके।" - "केवल मैं ही देखूँ, दोस्त न देख सके।"

२९. बलराम मन्दिर इसी मार्ग पर अवस्थित है।

३०. बागबाजार स्ट्रीट का २/१ नम्बर का किराये का मकान। माँ ने उसमें लगभग डेढ़ वर्ष निवास किया था।

माँ की खिड़की बन्द हो गयी। हम लोग भी उनके बारे में सोचते-सोचते सो गये।

अगले दिन सुबह माँ के पास जाने पर उन्होंने पूछा, "यह लड़का कौन है?" और सब सुनकर बोलीं – "देख रहे हो न? ज्ञान पक्का है।"

पद्मविनोद एक बार और इसी प्रकार गहरी रात के समय आये। वे कब आये, हम लोग जान नहीं सके, क्योंकि सो रहे थे। उनके गाने से नींद टूटने पर हम लोगों ने धीरे से खिड़की खोलकर देखा – वे पूर्ववत् सड़क पर खड़े-खड़े माँ के कमरे की ओर देखते हुए गा रहे थे –

"हे श्मशानवासिनी माँ श्यामा, तू श्मशान से प्रेम करती है, इसीलिये मैंने अपने हृदय को श्मशान बना लिया है, ताकि तू उसमें निरन्तर नृत्य करती रहे। मेरे चित्त में और कुछ भी नहीं है, बस दिन-रात उसमें चिताग्नि जल रही है। चारों दिशाओं में मैंने इसीलिये चिताभस्म बिखेर रखा है कि कहीं तू इसी से आकृष्ट होकर आ जाय। मृत्युंजय महाकाल को अपने चरणों के नीचे रखनेवाली, तू ताल के अनुसार नृत्य करती हुई चली आ, ताकि मैं नेत्र मूँदकर तुझे देख सकूँ।"

इस भजन से भी पूर्ववत् माँ की खिड़की खुलने का शब्द हुआ। माँ का दर्शन पाकर पद्मविनोद पूर्ववत् ही सड़क पर लोटकर भजन गाते हुए बिना कोई उपद्रव किये चले गये।

अगले दिन सुबह माँ ने कहा – "देख रहे हो ज्ञान कैसा पक्का है?" मैं बोला – "आपकी नींद में बाधा देते हैं!"

माँ ने कहा – "तो देने दो बेटा! उसके पुकारने पर मैं रह नहीं सकती, इसीलिए दर्शन देती हूँ।"

पद्मविनोद इसके बाद फिर नहीं आये और न माँ की नींद में बाधा डाली – हम लोगों को भी कुतूहलवश उनके क्रिया-कलाप देखने का अवसर नहीं मिला। इसी प्रकार कुछ दिन बीत गये। बाद में एक दिन सुबह उनके पुत्र (आयु १२-१३ वर्ष रही होगी) आकर शरत् महाराज को साथ ले गये।

शरत् महाराज जब लौटे, उस समय मित्र डॉक्टर काँजीलाल हमारे पास ही बैठे थे। शरत् महाराज ने हम लोगों को सेवा के लिये तैयार होने का आदेश दिया, क्योंकि पद्मविनोद बड़े बीमार थे – जलोदर (Dropsy) के कारण उन्होंने बिस्तर पकड़ लिया था। सुनकर मित्र उछल पड़े और अपने स्वभाव-सुलभ सेवाधर्म से प्रेरित हमारे साथ रोगी के पास चले।

रोगी को देखने के बाद उन्होंने डॉक्टर प्राणधन बसु से कहकर छिद्र (Tap) कराकर पेट का पानी बाहर निकलवा दिया। रोगी बच गये। परन्तु – **लिखितमिह ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः** – भाग्य का लिखा भला कौन मिटा सकता है? रोगी बीमारी से शय्याशायी होने के बावजूद मदिरा को छोड़ नहीं सके। इस कारण पन्द्रह दिन बाद ही उनकी पुनः पहले जैसी अवस्था हो गयी। पुनः मित्र की कृपा से छिद्र (Tap) कराया गया। इस बार सप्ताह बाद ही अवस्था फिर पूर्ववत् हो गयी। इस बार छिद्र (Tap) नहीं किया जा सका। डॉक्टरों ने कहा कि शल्य-क्रिया (Operation) के सिवा अन्य कोई चारा नहीं। रोगी भी अस्पताल जाने को बड़े व्यग्र थे।

हम जिस काल की बात कर रहे हैं, उन दिनों जलोदर की शल्य-क्रिया के लिए कलकत्ते में ब्राउन साहब सर्वाधिक कुशल चिकित्सक के रूप में प्रसिद्ध थे। वे भवानीपुर के शम्भुनाथ पण्डित के अस्पताल में रोगियों को देखा करते थे। हम लोगों ने वहाँ एक अलग कमरा लेकर उसमें रोगी को रखा। साहब प्रतिदिन मरीज को देखते, पर हम लोगों से कुछ नहीं कहते। वे मित्र को अकेले में बताते और हम लोगों को कुछ कहने से मना करते। इसी प्रकार दो दिन बीते। उधर मरीज आपरेशन के लिए बेचैन होने लगे। तीसरे दिन जब साहब उन्हें देखने आये, तो मरीज कष्ट न सहन कर पाने के कारण साहब से बोले – "मैं आपरेशन करने को कह रहा हूँ और आप टाल-मटोल कर रहे हैं। सुना था कि अंग्रेज साहसी होते हैं, पर देख रहा हूँ कि यहाँ तो उल्टी बात है।" साहब मरीज की बात, विशेषकर आखिरी बात न सह सके और अगले दिन सुबह आपरेशन करने का निर्णय लिया।

ठीक समय पर मरीज को अस्त्रोपचार-कक्ष में ले जाया गया। मित्र के अनुरोध पर हम लोग डॉक्टर न होते हुए भी वहाँ गये। साहब की शल्य-क्रिया देखने को डॉक्टर हाजरा और कलकत्ते के अन्य कई डॉक्टर वहाँ उपस्थित थे। डॉक्टर हाजरा मरीज को बेहोश कर उसकी नाड़ी पकड़कर बैठे। डॉक्टर काँजीलाल साहब की सहायता करने लगे। पेट चीरने के बाद साहब बोले – "यहाँ मेरे हाथों में इस समय इस रोग का यह २२वाँ रोगी है – २१ नीरोग हो चुके हैं, परन्तु इसका वैसा न होगा। नलियाँ सड़ चुकी हैं।"

अस्त्रोपचार के बाद रोगी को उसके पूर्वकक्ष में लाया गया और उसे कम्बल से ढँककर उसके चारों ओर गरम पानी के बोतल रख दिये गये। हाथ-पाँव बाँधने की तैयारी देखकर मैंने कहा – "डरने की कोई बात नहीं, इन्हें बाँधिये मत। मैं जिम्मेदारी लेता हूँ, इन्हें जरा भी हिलने नहीं दूँगा।" नर्सों ने उन्हें वैसे ही छोड़ दिया। इसके बाद हाजरा आकर बोले – "यदि आप रोगी को बिल्कुल भी कुछ न खिलाने का वचन दें, तो आपको उसके पास रहने दिया जा सकता है। चौबीस घण्टे तक बस थोड़ा-थोड़ा गरम पानी दिया जायेगा और वह भी आप नहीं, नर्सें ही देंगी। मैंने वचन दे दिया।

पर मरीज होश में आते ही अंगूर की माँग करने लगे। मैं भला कैसे देता और वे भी माननेवाले न थे। अन्त में वे बड़े मर्मस्पर्शी स्वर में अंगूर के केवल एक दाने के लिए करबद्ध प्रार्थना करने लगे। वह कातर स्वर – वह करुण हृदयस्पर्शी

प्रार्थना आज – इस अन्तिम समय भी पत्थर पर खिंची रेखा की भाँति हृदय में भासित हो रही और मैं स्वयं को धिक्कारता हूँ कि हाय, क्यों नहीं दे दिया ! उन्होंने कितनी बार कहा था – "यह कैसी मित्रता है? एक अंगूर माँगा – दुबारा कभी माँगने नहीं आऊँगा – तो भी तुमने नहीं दिया !" मैं कैसा निर्दयी हूँ ! डॉक्टरों के आदेश के कारण मैंने नहीं दिया था।

वह दिन ही भयानक दिन था ! मरीज को छोड़कर मैं माँ के घर खाना खाने न जा सका। करीब ४ बजे रोगी की साली के पति देखने आये। मुझे कुछ खाने को दे गये और यह सोचकर कि अकेले चुपचाप बैठे रहना कठिन लगता होगा, सोचकर 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ दे गये। किसी प्रकार दिन बीता, रात का एक प्रहर भी बीत गया।

रात के एक बजे रोगी ने कहा – "अब नहीं बचूँगा। मैंने एक अँगूर माँगा था, पर तुमने दिया नहीं। अच्छा किया – अब और नहीं माँगूँगा। अब एक काम करो, दोस्त ! ठाकुर की बातें सुनाओ – मेरा अन्त समय आ पहुँचा है।"

अपने हाथों में बन्द 'वचनामृत' को खोला। खोलते ही जो प्रसंग आया, उसमें उनका ही नाम था। मैं पढ़ने लगा। सुनते-सुनते मरीज के दोनों नेत्रों के दोनों कोनों में दो बूँद अश्रु दिखाई दिये और मुँह से केवल एक बार 'रामकृष्ण' उच्चरित हुआ। इसके साथ ही उनकी इहलीला समाप्त हो गयी। पद्मविनोद का अस्तित्व पृथ्वी से मिट गया।

अगले दिन सुबह समाचार पाकर उनके सगे-सम्बन्धी आ पहुँचे। केवड़ातला घाट पर अन्तिम कृत्य सम्पन्न हुआ।

दोपहर को मैं माँ के घर आया। सबका भोजन हो चुका था। माँ के आदेश पर अपने लिये ढँककर रखा हुआ भोजन ऊपर ले जाकर मैं खाने बैठा।

खाते-खाते मैंने माँ के समक्ष सारी घटना का आद्योपान्त वर्णन किया। सब सुनकर वे बोलीं – "ऐसा क्यों न होगा? ठाकुर की सन्तान था न ! कीचड़ लपेट लिया था, तो क्या हुआ? जिनकी सन्तान था, उन्हीं की गोद में गया।"

सुनकर मैं बोला – "जो नहीं जानता, उसे नहीं मानता।"

माँ (हँसकर) – "तो फिर तुम क्या कहते हो?"

"मैंने जो देखा और जो जानता हूँ, वही कहता हूँ। मैं जानता हूँ कि उसने आपका दर्शन किया है, आपने उसका प्राणरूपी अर्घ्य ग्रहण किया है, जिससे उसमें यह परिवर्तन आया और मैं भी यह दृश्य देखकर धन्य हो गया।"

एक दिन सुबह ऊपर जाकर देखा – गोलाप-माँ माताजी के पास बैठी हैं। हम लोगों को देखकर माँ कहने लगीं – "गोलाप की लापरवाही का स्वभाव अभी तक नहीं गया। इसी लापरवाही के कारण कितने धक्के खा रही है, देख रहे हो न, फिर भी उसकी लापरवाही जैसी की तैसी बनी हुई है। कहावत है, 'मरने से स्वभाव नहीं जाता, धोने से मान नहीं जाता। इसी असावधानी के कारण गाड़ी से दबकर मरते-मरते बची है।"

मैंने पूछा – "कब की बात है, माँ?

माँ ने कहा – "जब मैं बड़े-रास्ते पर केदार के घर के पास निवास करती थी।"

– "कौन केदार? लँगड़े केदार?"

माँ ने कहा – "हाँ। वह सड़क पार कर रही थी – देख-समझकर पार करना चाहिए, सो तो नहीं, सीधे चली जा रही थी। एक पगले घोड़ेवाले गाड़ी के सामने जा पड़ी। सामने दो पैर को उठाये घोड़ा था। जरा-सा आगे बढ़ते उसके पैरों-तले आ जाती। एक व्यक्ति ने – 'मरी, मरी' – चिल्लाते हुए उसे झट से खींचकर हटा दिया – गोलाप बच गयी।

"एक अन्य समय जब वह मेरे जगन्नाथ घाट (गोलबाड़ी के निकट) के मकान में रहती थी। उसका घड़ा तो तुमने देखा है न? घड़े को लेकर वह गंगा नहाने गयी। घड़े को किनारे रखकर वह नहा रही थी, तभी ज्वार आया और घड़ा बह चला। घड़ा बहा जा रहा था और गोलाप भी उसके पीछे-पीछे चली जा रही थी। लोग हँस रहे थे। आखिरकार एक व्यक्ति ने घड़ा पकड़कर निकाल दिया।

"इसलिए मैंने उससे कहा था कि संसार में रहने पर सोच-समझकर चलना पड़ता है। लापरवाही छोड़नी पड़ती है। होशियार होना पड़ता है। तभी लोगों के बीच रहा जा सकता है। मेरे पास आकर 'हा-हा' करके रोने से क्या होगा?"

हम लोगों ने केवल माँ के उपदेशों को सुना, यह जरा भी नहीं समझे कि गोलाप-माँ को क्या हुआ है।

माँ बहुत दिनों से कलकत्ते आयी हैं। अब गाँव जाने की इच्छा प्रगट कर रही हैं। बीच-बीच में जाने की बात उठ रही है, तभी एक दिन सुबह वे पूछने लगीं – "मठ में आजकल ठाकुर-पूजा कौन करता है?" मैंने कहा – "बाबूराम महाराज।" माँ ने उन्हें बुलाने को कहा। गणेन्द्रनाथ बुला लाये। माँ ने बाबूराम महाराज के हाथ में ठाकुर का कवच देकर उसकी नित्य-पूजा करने को कहा। बाबूराम महाराज तत्काल एक किराये की नाव में उसे बेलूड़ मठ ले गये। बाबूराम महाराज के जाने के बाद माँ बोलीं – "इतने दिनों से ठाकुर का कवच मेरे पास था, मठ में दिया – कौन जाने – शरीर का क्या कोई ठिकाना है – कब क्या हो जाय, कहा नहीं जा सकता। कभी शायद बुखार में पड़ी हूँ, होश नहीं, हो सकता है कि कोई मौका देखकर चुरा ले जाय। गाँव तो तुमने देखा है ! किसी का कुछ भरोसा नहीं।"

❖ **(क्रमशः)** ❖

रामकृष्ण मिशन आश्रम, पुरी

श्रीठाकुर, श्रीमाँ तथा श्रीस्वामीजी के आदर्श से अनुप्राणित कुछ भक्तों के प्रयत्न से १९२५ ई. में श्रीक्षेत्र पुरीधाम में वर्तमान स्थान पर ही रामकृष्ण मिशन की स्थापना हुई। श्रीमाँ सारदा देवी ठाकुर के कुछ साक्षात् शिष्यों के साथ १८८८, १९०४ और १९११ ई. में - कुल तीन बार पुरीधाम आयी थीं। श्रीमाँ और अन्य महापुरुषों के आशीर्वाद से धन्य पुरीधाम में स्थित यह आश्रम १९४४ ई. में औपचारिक रूप से बेलूड़ मठ से युक्त हुआ। प्रारम्भ से अब तक यह आश्रम अपने आध्यात्मिक तथा जन-हितकर कार्यों द्वारा पुरी और उसके समीपस्थ अंचल के लोगों की सेवा में निरत है। इन कार्यों में निम्नलिखित सेवायें उल्लेखनीय हैं —

(१) पुस्तकालय – आश्रम का पुस्तकालय १९४४ ई. से आम जनता, छात्र-छात्राओं और भक्तों की सेवा में लगा है। यहाँ जन-साधारण के लिये एक बड़ा पाठ-कक्ष और छात्र-छात्राओं के लिए एक अलग पाठ-कक्ष है। इसमें कुल २०,००० ग्रन्थ, वाचनालय में १४ समाचार-पत्र तथा ५५ पत्रिकायें आती हैं।

(२) विद्यार्थी भवन – १९५६ ई. में स्थापित इस विद्यार्थी भवन में वर्तमान में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लगभग ७० विद्यालयीन छात्र रहते हैं। उन्हें आवास, भोजन, पोशाक, पुस्तकें आदि आश्रम की ओर से निःशुल्क दी जाती हैं। छात्रों के शारीरिक, बौद्धिक और चारित्रिक विकास हेतु विभिन्न प्रकार की व्यावसायिक शिक्षा भी भवन में दी जाती है।

(३) शिक्षादान – पुरी नगर के पिछड़े वर्गों के अत्यन्त निर्धन घरों के विद्यालयीय छात्रों के लिए १९९७ ई. से आश्रम-प्रांगण में एक निःशुल्क शिक्षादान केन्द्र आरम्भ किया गया है। यहाँ से विद्यार्थियों को दोपहर में भोजन, पठन-सामग्री तथा विद्यालयीय गणवेश दिया जाता है। २००३-०४ सत्र में १८ छात्रों को ये सुविधायें मिली। इसके सिवा प्रतिवर्ष विभिन्न ग्रामीण विद्यालयों के छात्र-छात्राओं को निःशुल्क यूनीफार्म दिया जाता है। २००३-०४ सत्र में जगत्सिंहपुर, पुरी तथा खुड़दा जिले के १९ विद्यालयों में १०३६ सेट विद्यालयीय गणवेश प्रदान किये गये।

(४) दीन-दुखियों की सेवा – २००१ ई. से ही आश्रम पुरी अंचल के अत्यन्त निर्धन-वयस्क लोगों के बीच मुफ्त चावल वितरित करता चला आ रहा है।

(५) प्राथमिक राहत कार्य – प्राकृतिक प्रकोपों तथा संकटों के दौरान आश्रम अंचल के लोगों की सहायता करता है। २००३-०४ ई. के अग्निकाण्ड में खुड़दा के ३६ परिवारों को राहत-सामग्री दी गई। पुरी जिले के ६२ गाँवों में बाढ़-पीड़ितों के बीच राशन, पकाया हुआ भोजन, दवाइयाँ और वस्त्र आदि वितरित किये गये।

(६) स्वास्थ्य सेवा – १९८४ ई. में चल-चिकित्सा योजना के द्वारा सर्वांगीण ग्राम-विकास-प्रकल्प प्रारम्भ हुआ था। आज यह पुरी और खुड़दा जिले के दुखी, रोगी ग्रामीणों के बीच स्वास्थ्य-सेवा पहुँचा रहा है। २००३-०४ ई. में २०,००० से अधिक लोगों की सामान्य चिकित्सा तथा २०० से अधिक रोगियों की दन्त-चिकित्सा की व्यवस्था की गई है। भगवान जगन्नाथ की रथयात्रा-उत्सव के समय इस सेवा-प्रकल्प के द्वारा तीर्थयात्रियों की चिकित्सा और अन्य सुविधाओं की व्यवस्था की जाती है।

आश्रम के अन्य क्रिया-कलाप - उपरोक्त गतिविधियों के सिवा नित्य प्रार्थना, साप्ताहिक प्रवचन, ठाकुर-माँ-स्वामीजी के जन्मोत्सव-समारोह, विभिन्न अवतार तथा धर्माचार्यों की जन्म-तिथि आदि का आयोजन किया जाता है। श्रीमाँ की सार्ध-शताब्दी का समारोह बड़े पैमाने पर मनाया गया। इस समारोह का उद्घाटन रामकृष्ण मठ-मिशन के तत्कालीन वरीष्ठ उपाध्यक्ष स्वामी गहनानन्द जी महाराज ने किया। इसके साथ ही इस आश्रम में जनसभा, छात्राओं की शोभायात्रा, भाषण प्रतियोगिता तथा लीला-कीर्तन आदि का आयोजन होता है। इस उपलक्ष्य में आश्रम ने टिकताल के 'सारदा महिला विद्यालय' में १६ माहिलाओं के लिये एक सिलाई-प्रशिक्षण-केन्द्र को आरम्भ किया है और गरीब तथा मेधावी छात्रों को छात्रवृत्ति देने के लिए एक स्थायी कोष बनाया गया है। १९९४ ई. में आश्रम ने बेलूड़ मठ द्वारा अधिग्रहित होने की स्वर्ण-जयन्ती तथा स्वामी विवेकानन्द के शिकागो धर्म-महासभा में योगदान की शताब्दी मनायी। इसके अलावा छात्र-युवा-सम्मेलन, पूर्वछात्र पुनर्मिलन, साधारण सभा, प्रश्नोत्तरी, वाद-विवाद प्रतियोगिता तथा शोभायात्रा आदि भी आयोजित हुए। इसके अतिरिक्त इस आश्रम ने समुचित समारोह के साथ श्रीरामकृष्ण की १५०वीं जयन्ती, स्वामीजी की १२५वीं जयन्ती और माँ की पावन पुरी धाम में शुभागमन की शताब्दी-समारोह का भी आयोजन किया था। (प्रस्तुति - सोमनाथ भट्टाचार्य)